द्विमासिक



शीराज़ा हिन्दी

इस अंक के आकर्षण

६१

वर्ष १८ / अंक १
(जून-जुलाई, १९८२)

●

प्रमुख सम्पादक
मुहम्मद यूसुफ टेंग

●

सम्पादक
रमेश मेहता

●

पत्र - व्यवहार
सम्पादक
शीराज़ा हिन्दी
जे० एण्ड के० अकादेमी
ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड
लैंग्वेजिज़, नहर मार्ग
जम्मू।
फोन : ५०४०

●

मुद्रक
क्रांति ऑफसेट प्रिंटिंग
हाउस, जम्मू।

●

वार्षिक शुल्क : दस रुपये
एक प्रति : दो रुपये

लेख

कहानियां

कवितायें

स्थायी स्तम्भ

शीराज़ा हिन्दी

जून - जुलाई, 1982

६१

अपनी बात

संवेदना का प्रथम संस्पर्श पाकर जिस कवि ने छंद की रचना की होगी उसे ायद ही यह ज्ञात रहा होगा कि कविता को कभी एक जिम्मेदार कर्म के रूप में वीकार किया जा सकता है। प्रकृति और नारी के सौंदर्य की आभा एवं गूढ़ ्यों पर पड़ा झीना आवरण हटाने तथा अपने आश्रयदाता की विरदावलियां गानेवाले ायों ने 'रामायण' तथा 'महाभारत' जैसे महाकाव्यों की परिकल्पना की होगी— सोचना गलत होगा। किन्तु समय बदलने के साथ कविता से उसके पाठक/श्रोता ापेक्षाओं में भी परिवर्तन आया और कविता राजदरबारों से निकल कर संतों की ड़ियों से होती हुई जन-साधारण के बीच विचरण करने लगी।

यह वह पड़ाव है जहां आकर कविता को लेकर हमारी चिंता शुरू होती है। प्रिय साहित्य बनाम साहित्य की ही तर्ज पर 'कवि-सम्मेलनी कविता' बनाम ता' का सवाल हमें बेंधने लगता है। एक समय था जब बच्चन जैसे प्रतिष्ठित ढोलक लेकर कवि-सम्मेलनों में 'मधुशाला' का कवितापाठ करते सारे देश का

चक्कर काटा करते थे। किन्तु कविता की भूमिका और प्रकृति में अंतर आ जाने से कवि-सम्मेलनों की बनावट में भी अन्तर आया। यह सच है कि अधिकांश जनता नयी कविता के दौर से आज तक गलेबाज़ कवियों का कवि-सम्मेलनों में सम्मान करती आ रही है किन्तु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि नयी कविता के श्रोताओं का एक ऐसा प्रबुद्ध-वर्ग भी है जो दिन-प्रतिदिन सम्पन्न होता जा रहा है और अब नयी कविता और उसके सरोकारों से अपने को एकात्म पाने लगा है। इसी प्रबुद्ध श्रोता-वर्ग ने नयी कविता को पुस्तकों से बाहर प्रतिष्ठा प्रदान की है, जिससे नयी कविता का उपहास करने वालों को मुहतोड़ जवाब दिया जा सका है। किन्तु मात्र इससे झगड़ा हल नहीं हो जाता। वस्तुत: कविता जिनके लिए कवि-सम्मेलनी आय का साधन न होकर जीने-मरने की शर्त है वे कवि पाठ्यपुस्तकों अथवा साहित्यिक समीक्षाओं के बाहर शायद ही जाने जाते होंगे। प्रतिष्ठित कवि-सम्मेलनी कवियों के कविता संग्रह अव्वल तो ढूंढे से नहीं मिलते और यदि कहीं भूले से कोई कविता-संग्रह हाथ लग जाए तो उसमें कविता की तलाश करना एक श्रमसाध्य काम हो सकता है। उधर प्रकाशन-तन्त्र में सही कविता की स्थिति यह है कि कवि को अपनी टेंट से पैसे खर्च करके ही कविता-संग्रह छपवाने में सफलता मिले तो मिले—प्रकाशक तो अपना पैसा ब्लाक करने को तैयार नहीं मिलता। इस सबका परिणाम यह हुआ कि जिनके पास धन है वे लोग कविता के नाम पर कविता जैसी रचनाओं के संग्रह प्रकाशित करवा रहे हैं और जिनके पास कविता है वे मित्र मण्डली में बैठ कर देश के कविता-प्रेम का मातम मना रहे हैं।

'कविता' को कवि-सम्मेलनों में उसकी खोई हुई प्रतिष्ठा दिलाने के लिये मुझे लगता है कि हमें 'खिचडी' कवि-सम्मेलनों का बहिष्कार करना होगा तथा अपनी साधना से नयी कविता ग्रहण कर सकने वाले श्रोताओं का पुनर्संस्कार भी। आज इस बात पर भी विचार करना आवश्यक हो गया है कि प्रकाशन-तन्त्र की मुनाफाखोर प्रवृत्ति से जूझती हुई कविता को उसके सही पाठकों तक किस प्रकार पहुँचाया जाये अन्यथा कविता को उसकी सार्थक भूमिका निभाने दिया जा सकेगा—इसमें सन्देह का पैदा होना अस्वाभाविक नहीं लगेगा।

—रमेश मेहता

दो नवगीत

एक काला शून्य

—निर्मल विनोद

एक काला शून्य है घेरे मुझे !
खुरदरी यह शाम धूमिल,
रेंगती है बहुत धीरे—
देह तीरे;
दूर......निर्जन में,
खड़ा हो, काश !

कोई—
इस घड़ी, टेरे मुझे !

एक काला शून्य है घेरे मुझे !
तैरना होगा कहाँ तक ?
रेत की अंधी नदी में—
इस सदी में;
झर रहे हैं
हरहराते—

खुश्क पत्ते;
तोड़ते मेरे मुझे !

एक काला शून्य है घेरे मुझे !

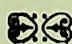


टूटते क्षितिज के साये

बहुत त्रासद
टूटते ये क्षितिज के साये !
इस तरफ़—
खानाबदोशों का सिहरता,
नित्य की मजबूरियाँ ढोता—
बिखरता
—एक पूरा देश है;
सब जहाँ निश्शेष है···
और वे हैं,
उस तरफ़—
यह सोचकर खुश—
बहुत दिलकश
हैं कई
हमने नये नारे उगाये।

बहुत त्रासद—
टूटते ये क्षितिज के साये।

—सुशील निवास,
हरिसिंह नगर (कोटली बस्ती)
जम्मू–180005।



मूल्यांकन

कश्मीर के युवा कवि : महाराजकृष्ण संतोषी

—डॉ० निज़ामउद्दीन

कश्मीर की हिन्दी कविता को उर्वरता प्रदान करने वाले नये हस्ताक्षरों में महाराजकृष्ण संतोषी का अपना एक स्थान है। उनका अभी तक एक काव्य संग्रह —"इस बार शायद" (१६८०) प्रकाशित हुआ है और इधर-उधर पत्रिकाओं के माध्यम से भी हम उनकी कविताओं को देखते रहे हैं। कविता के विषय में उनकी अपनी अवधारणा है —"कविता एक ऐसा सशक्त माध्यम है जो जीवन को वास्तविक अर्थों में प्रकट करती है ... कविता अपने युग से जुड़ी रहनी चाहिए और आज की कविता इस कसौटी पर खरी नहीं उतरती है"। वह समझते हैं कि "आज की कविता अपने परिवेश के प्रति 'टोटल फेलियोर' है।" उनकी इस बात से तो हम सहमत नहीं कि आज की हिन्दी कविता अपने परिवेश से अलग-थलग जा पड़ी है, या वह युग-संदर्भों को, परिस्थितियों, सामाजिक परिवेश को रेखांकित करने में असफल रही है। आज की कविता में बहुत पैनापन है, उसकी अपनी गरिमान्वित अस्मिता है, उज्ज्वल सान्द्रानुभूति है, कल्पना-विच्छिति है, अर्थवत्ता है, अपना नवीन शिल्प है। अपनी कविता की बात करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट किया —"मैं अपनी कविताओं में अपनी अनुभूतियों को, अपने भावों या अनुभवों को आम शब्दावली में व्यक्त करता हूँ। मैं यह जरूर ध्यान रखता हूं कि कविता का सौंदर्य बिगड़ने न पाये, व्याकरण भले ही टूट जाये"। इस संदर्भ में उन्होंने अपनी निम्न कविता प्रस्तुत की—

हाँ, हाँ, मैं वे सब व्याकरण
तोड़ दूँगा/सही बात कहने में

जो मुझे रोक लेंगे ।

कि नह िंहोती/कविता नींद में
बौखलाए/घबराये हुऐ आदमी का वक्तव्य
कविता—/सही बात कहने की
एक सच्ची कोशिश होती है
जिसमें यदि टूटता है व्याकरण
तो सौ बार टूटे/कि सबसे बड़ा जुर्म है
कविता में झूठ बोलना ।

कविता कवि की सच्ची, खरी अनुभूति का दर्पण है और दर्पण पर जिस वस्तु का अक्स पड़ेगा वह अपनी भव्यता अथवा कुरूपता दोनों में ज़ाहिर होगी ही । महाराजकृष्ण संतोषी की कविताओं में उनकी अपनी, अपने समाज की, अपने परिवेश की अनुभूति दृष्टिगत होती है । अपने काव्य संग्रह का नामकरण उन्होंने दूसरी कविता —"इस बार शायद" के नाम पर किया है जिसके अन्त में कवि कहता है कि जन्म से मौत तक एक और ज़िंदगी है और ऐसी ज़िंदगी को एक अदद उम्मीद के सहारे ही जिया जा सकता है । यों उनकी सांस टूटी हुई है और देह हारी-थकी है परन्तु वह निराशा या टूटन से बिखरता नहीं, वह तो एक विशाल वृक्ष बनने की साध और अदम्योत्साह लेकर आगे बढ़ना चाहता है, ऊपर उठना चाहता है, अतएव उदासियों के आच्छादन और धुंधलके में भी उसे आशा की किरण नज़र आती है । वह अंधेरों की घास काटकर प्रकाश के बीज बोता है । जहां कहीं उत्पादन, कोलाहल सुनता है वहीं मानवता का वरदान दिखाई पड़ता है और गली, गाँव, नगर सदा एक सुखद, स्वच्छ वातावरण की चाहत संजोये है—जल में जहाज-सा यह तसव्वुर आँखों में तैरता है । कवि जब देश और समाज के संदर्भों की पगडंडी से गुज़रता है तो उसकी संवेदना के क्षितिज खुलते चले जाते हैं । अपने देश के शोषित, पीड़ित लोग हाथ फैलाए और गर्दन झुकाए नज़र आते हैं तो वह आहत हो जाता है । भला ऐसे लोग राजनीति के दांव-पेच, तिकड़मबाज़ी क्या जानें ! भला ये साहित्य-संस्कृति की गरिमा क्या समझें ? कवि को शोषण-गर्भित सत्ता-व्यवस्था से चिढ़ है । इस सत्ता-सूरज में कितनी ही चमक-दमक क्यों न हो परन्तु सघन अंधेरे भगाये नहीं जा सकते, इसके हिंसक दांत देह के साथ-साथ आत्मा को भी काटकर खा जाते हैं । पर आश्चर्य है, सभी उधर देखते हैं, सभी के उधर मस्तक नत हैं । 'सूरज' नई अर्थवत्ता में यों अभिचित्रित है—

कभी रहा होगा देवता सदृश/तुम्हारा सूरज /
आज मगर एक हिंसक सांड है/जो सबको पछाड़ना चाहता है /
इसलिए बेहतर है/हाथ जोड़ना बंद करदो /
सूरज को नुकीले सींगों से पकड़
फेंक आओ/कमजोर आदमी के चौराहे पर।

इस सांड की बड़ी विशेषता यह भी है कि वह सभी खेतों में बेरोक टोक मुँह मारता चलता है।

'चाह' कविता में जीवन की गत्यात्मकता, उपस्थिति, उपयोगिता को बिम्बात्मकता प्रदान करते हुए कहा है—

पहले मैं भरपूर/केरोसिन के पीपे की तरह /
एक उपयोगी वस्तु था/आज एक उपस्थिति हूं /
सिर्फ जगह घेर लेता हूं /
जिसकी अपनी गति नहीं /

क्योंकि उसका अस्तित्व पहाड़ी ढलान से लुढ़के मृत घोड़े के समान है। 'अभिव्यक्ति' में रचनाकार ने परम्परागत रोमानी लीक छोड़ दी है, वह उस पर पग धरना नहीं चाहता। वह युग-आवाहन सुनता है और उपेक्षित, बेरोमानी दास्तानों, घटनाओं को अभिमुखरित करता है। "माँ का मर्म" में प्रकृति की संवेदनशीलता, सहनशीलता, वत्सलता चित्रित है। मनुष्य की अर्थ-लोलुपता, स्वार्थलिप्सा देवदार के जंगल के जगल साफ करती जा रही है। प्रकृति माँ की सकल हरितिमा नष्ट की जा रही है। उधर कुदकती-फुदकती, उछलती-तैरती मछलियों को नदी में जाल डालकर पकड़ा जाता है। परन्तु हरीताभ धरती की, मौन-शाँत प्रवहमान सरिता की पुंजीभूत पीड़ा, कसक को कौन जाने, कौन समझे ! यह करुणा व ममत्व की संवेदना की अनुभूति बहुत तीव्र है। "शंकालु मन" में आज के व्यक्ति की शंकित दृष्टि को अच्छा उभारा गया है। यहाँ "हर ओर मित्रों का घेरा है / मन फिर भी शंकालु है / स्नेह में विष / किसी ने घोला है / स्वागत में अवहेलना है पिरोई / और उसे नये-नये सम्बोधन प्रदान किये हैं।" आज हम सभी पर शंका करते हैं, मित्रों को भी संदेह-दृष्टि से देखते हैं इसे राजनीति का, विघटित मानव मूल्यों का अभिशाप मानेंगे। खोखले, मुखौटा धारण किये व्यक्तित्व पर तीखा व्यंग्य उनकी "कैमरा" कविता में विद्यमान है—

लोग चाहते हैं/फकीरी सूरत का
बादशाही चित्र :

कैमरा हंसता है।

अभिनेताओं की हंसी की नकल
या शायरों की मस्ती का अक्स
लोग अपने चेहरों पर।

बिगड़ जाते हैं
गलती में तस्वीर के आँसू
पोंछ जाते हैं
कैमरा रोता है।

'टूटन के बहुत नज़दीक' में व्यक्ति के, व्यक्तित्व के टूटने की (Complex) क्षिप्रानुभूति अंकित है। सड़क पर घटी दुर्घटना भी उसके भीतर होती है, एक घटना बन जाती है और वह टूटन उसके निकट दर्पण टूटने के समान है जिसमें उसका टूटना स्वतः बिम्बित है—"सूखने वाला हर कुआँ / मुझमें ही पनाह लेता है / मैं / समुद्र में विनष्ट किसी पोत का / अंतिम जल हूं।" तकदीर और मौसम से छला गया व्यक्ति उजड़े बाग-सा अपने में सिमटा, अन्तर्मुखी बन गया है, जो संभाव्य ही है। वस्तुतः यह खालीपन उसकी पीढ़ी के खालीपन का प्रतिनिधित्व करता है, परन्तु उसमें नैराश्य नहीं, अग्रसर होने की ललक है, ज़िंदगी को समझने की तलाश जारी है—"ज़िंदगी एक ऐसी प्रक्रिया / बन गई है / दिन प्याली भर धूप / संजोये रहे, सांझ अपने सिरहाने / जो टूट - बिखर जाये / रात की तकलीफ / कुछ कही न जाये / जैसे भीगे लिबास में / बीत जाये।" लेकिन जब "आत्मा को मांस की तरह बिकता" देखा जाता है तो सहज ही सोच विचार में डूबकर कहना पड़ता है कि प्रलय कब आयेगी! "जनपथ पर" में कवि को अपने देश का बिम्ब नज़र आता है—"धूप से / काली पड़ी सड़कों पर / काले रंग की / बदबूदार चमड़ियाँ पहने / ये लोग मेरे अपने देश के हैं।" कवि ने सर्वहारा वर्ग और आम आदमी के प्रति सहानुभूति दर्शाते हुए महानगरों के जीवनबोध को उकेरने का प्रयत्न भी किया है। लोग मौसम और तकदीर की तलवार से आहत हैं। सूखी रोटी, बासी नींद, गर्दन झुकाए, हाथ फैलाये फिरते हैं, कोलाहल में जन्मे एकान्त में सांस लेते हैं। और "ए मेरे गाँव की सड़क" में राजमार्ग का भटकाव नहीं गाँव की धूल भरी सड़क; वृक्षों की छाया, संत-सी परिलक्षित होती है। और "मेरा शहर" में शहरी जीवन के विकृत, प्रदूषित, खोखले जीवन को अभिव्यक्ति प्रदान की है। यहाँ "चीखों और चीलों से / आकाश छलनी हो जाता है।" और ऐसा लगता है जैसे हर शाम

यहाँ मरघट सुलगता है—एक पीड़ा में सिसकता-कराहता है तमाम रात। वैसे यह शहर विशाल देवदार सदृश क़द्दावर है मगर—

"मेरा यह शहर
तपेदिक के मरीज-सा
भीतर ही भीतर कितना खोखला हो चुका है
और बाहर
इसका पाउडर पुता चेहरा
एक वेश्या-सा
कितना छकाता है...मैं जानता हूं!
हाँ! सिर्फ मैं ही जानता हूं।

'नदी' में भावसंवेदना तथा बिम्बधर्मिता की दृष्टि से कवि की सर्जनशीलता को उत्कृष्टता प्राप्त हुई है। संसार नदी का जल चीखता-चिल्लाता निर्बाध अविरल प्रवाहित हो रहा है। उदास साहिल, तपी हुई रेत जहाँ पदचिह्न तक दग्ध हो जाते हैं। पहले "सुना था—इस नदी का जल। पत्थरों से टकराकर संगीत उत्पन्न करता था," लेकिन आज यह नदी जलतरंग नहीं बजाती, चीखती है, सुबकती है और इसके जल से जले हुए मांस की चिडांध आती है कवि यथार्थ पर दृष्टि जमाकर देखता है—

अधूरे बेहोश नग्मे
बुद्धिमान खोपड़ियाँ
ईमानदार मृत चेहरे
तथा लजाता हूं
जब अतीत के गाल पर
अन्याय के विषैले दांत
गढे हुए देखता हूं।

× × ×

सिंह और सिंहासन की भूख में
कोई अन्तर नहीं होता।

'चींटी-सी रेंगती रात' काव्यशिल्प में उत्तम है, इसके बिम्ब आकर्षक हैं। चाँद एक विधवा की बिंदिया-सा उतर गया है और—

चींटी-सी रेंगती रात
कहो / हम सहर तक जी सकेंगे ?

एक विधवा की बिंदिया-सा
उतर चुका है चाँद
तारकों को जैसे किसी चालाक जादूगर ने
छिपा रखा हो
अपने झोले में उठा के।

कुछ नहीं है कि जिसके सहारे हम जागते रहेंगे
और चींटी-सी रेंगती जायेगी रात !

अभी कुछ ही गज दूर
दिन जो हम फेंक आये हैं
एक हरामी बच्चे की तरह !

महाराजकृष्ण संतोषी अपने को आधुनिक कवियों में धूमिल से अधिक प्रभावित समझते हैं और मुक्तिबोध, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना तथा लीलाधर जगूड़ी को भी पसंद करते हैं। ज़ाहिर है उनकी भावानुभूति, शिल्प आदि से कवि ने लाभ उठाने का प्रयत्न किया है जो सहज है परन्तु उसमें मौलिकता की कमी नहीं। कहीं-कहीं शब्दों को नये आकार दिये हैं— 'महसूसना', 'तलाशना' इसी प्रकार के प्रयोग हैं, अन्य नये कवियों में भी इस प्रकार की नवीन प्रयोगधर्मिता दृष्टव्य है। 'तसव्वुर' (अरबी) को "तस्सवुर"; 'लुंगी' (फा०) को "लोंघी" न जाने कैसे अशुद्ध लिखा है? जहाँ तक जीवन-प्रसंगों या सामाजिक संदर्भों का प्रश्न है अभी उसे उनकी विशद भूमि में प्रवेश करना होगा, नाना जीवन-परिस्थितियों का सम्यक् अवलोकन करना होगा। मिथकीय प्रयोगों से कवि बचकर चलता नज़र आता है, न जाने क्यों? आज की कविता के मुहावरे में मिथक का अभिनिवेश काफी देखा जाता है। आज की कविता का झुकाव कुछ लम्बी कविता की ओर भी देखने में आ रहा है और यहाँ महाराजकृष्ण संतोषी उस ओर झुकते दिखाई देते हैं तथा यह झुकाव उनकी "टुकड़े-टुकड़े चीख" में स्पष्ट प्रतिबिम्बित है। लम्बी कविता के विषय में डा० रामदरश मिश्र का कहना है कि "लम्बी कविता वह है जो लम्बी हो और जो आज के जीवन के कई-कई घुमावदार मोड़ों से गुजरती हुई एक जटिल यथार्थ का बोध और अनुभूति उभारती हो।" लम्बी कविता में जहाँ वैचारिक अनुभूति, तनाव, आवेग के साथ नाना संदर्भों तथा स्थितियों में ऐसी अन्विति या एकसूत्रता हो कि केन्द्रीय भाव आहत न हो, वहाँ उसकी सफलता असंदिग्ध है। प्रदीर्घता के कारण किसी कविता को हम लम्बी कविता की श्रेणी में नहीं रख सकते। वर्तमान जीवन की विसंगतियों को विभिन्न भाव स्थितियों

या प्रसंगों को, मानसिक ध्वनि-संकेतों को नाटकीय रूप में चित्रित करना लम्बी कविता की विशेषता में शामिल है। बात यह है कि आधुनिक जीवन संघर्ष-संकुल है, जटिल और संश्लिष्ट है और इसको अभिव्यक्ति देने के लिए लम्बी कविता में काफी गुंजाइश रहती है। महाराजकृष्ण संतोषी ने भी लम्बी कविता में तनावमय द्वन्द्वात्मक प्रकृति, मानवीय संघर्षों को, कुछ संदर्भों तथा स्थितियों को मुखरता प्रदान की है। यहाँ टूटे-बिखरे व्यक्तित्व को कई स्थितियों में रेखांकित किया है। बिना प्यार के मौसमों का बदलना कोई अर्थ नहीं रखता, और बिना प्यार के यादों की बैसाखी के सहारे की जरूरत नहीं, इससे बेसहारे चलना-फिरना अच्छा है और अब तो स्वप्न में भी रूप की चुस्कियों का स्वाद बदला-बदला महसूस होता है। एक पछतावा उसे कुरेदता है कि उसने सिगरेट का धुआँ उड़ाते या शराब की मस्ती में डूबे किसी को न मित्र बनाया, न सुखी आदमी का ढोंग रचा और अब—

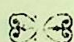
भीड़ से अलग
मैं एक पोलियोग्रस्त हाथ सा
बेकार सड़ रहा हूं
मेरे मस्तिष्क के दर्पण में
चंद हस्सास चेहरे चमक रहे हैं।

वह बार-बार अपने अस्तित्व को नकारता है; फटने वाली पतंग-सा, शबनम-सा, जलमग्नोन्मुखी सुराखदार जहाज-सा अपने अस्तित्व को समझता है। कविता में "जिसे रोका जा सकता था", "रोका भी जा सकता था.." और 'हटाया भी जा सकता था" जैसी पंक्तियों को प्रतिध्वनि— पुनरावृत्ति प्रदान करने में नाटकीयता आ गई है, 'सूरज' का प्रतीक भी अच्छा है जिसके सहारे वह गटर से बाहर निकल पाया, वहीं से प्रेरणा और प्रकाश उपलब्ध हुए। यहाँ—

भीड़ मदहोश है
मुखौटे बेजोड़ हैं
लूट और लाठी का जोर है
मस्ती में शहर ने
अपनी लोंघी उतारी है
विवेक—
ट्रैफिक सिगनलों-सा कभी बुझता
कभी जल उठता है

यहाँ सबका
सही दिशा का ज्ञान खो गया है
यहाँ सब
लोहे के जंग लगे बरतनों-से
टकरा रहे हैं
यहाँ आशंकाओं के कुत्ते
ज़ोर-ज़ोर से भौंक रहे हैं।

यहाँ सब स्वार्थी हैं, एक-दूसरे को चूहों की तरह बिल में बैठे कुतरते रहते हैं। यह दुनिया इन्सानों के स्थान पर चूहों के रहने के योग्य है यहाँ प्यार करना, जन्म लेना, मानव बनना "सबसे बड़ा अभिशाप है।" जगद-दर्पण है यह कविता, यहाँ सब अपना उदास चेहरा भी देख सकते हैं। यहाँ कविता में एक प्रकार से मार्क्सवादी वैचारिकता और व्यवस्था के, समाज के प्रति उदासीनता व आक्रोश के स्वर साफ सुनाई पड़ते हैं।



—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
इस्लामिया कालेज,
श्रीनगर (कश्मीर)

कहानी

एक्ज़िमा

—महाराज कृष्ण शाह

आज पांच साल बाद वही दफ़तर वही कमरा और वही·· ··· कुछ न बदलने की यह स्थिति मेरे लिए असह्य हो रही थी। मैं फिर से कहीं दूर भागने की सोचने लगा— अपने आपको अच्छी तरह टटोलते हुए मुझे प्रतीत होने लगा कि मैं जैसे गलत स्थान पर बैठ गया हूँ। आदतन मुझे जिस टेबुल के पास बैठना था वहां रियाज़ बैठा था और मैं उसी कुर्सी पर आज बैठा था जिसे हासिल करने की साध मेरे मन में बराबर बनी रहती थी— मैं अक्सर अपनी बेकरारी सस्ते सिग्रेट फूंक कर या कुछ घिसापिटा लिख कर छिपाता रहता था। "सवस्क्राईबर्स" समय से पहले ही आने शुरू हो गए थे उसने सबको उपेक्षित सा कर रखा था और बराबर स्वेटर पर नक्श बुन रही थी····· पांच साल का अन्तराल ····· मात्र एक रात की तरह समाप्त हो गया था · ·· ज़िदगी क्या इतनी छोटी होती है। उम्र क्या इसी रफ़तार से गुज़र जाती है ···· जाने से पहले पांच सालों पर निगाह दौड़ाते हुए मुझे लगा था जैसे पहाड़ के सब से ऊंचे शिखर पर टाँग दिया गया हो मुझे जहां से मैं कभी लौट कर इस धरती पर न आ सकूं····· और कल शाम इस दफ़तर के बारे में कितने उत्साह, किस नयेपन से भर गया था मैं— सोचा था बहुत कुछ बदल गया होगा यहां—सब कुछ नया और ताजा—घर पर कुछ देर अजीब सा लगा था ··· मेरे भेजे हुए रुपये घर की सही मरम्मत में लग चुके थे बिलकुल अजनबी सा लग रहा था अपना घर·· हर चीज़ बदली हुई माया ने पूरे सेट में चाय मेरे आगे रख दी थी । यह सब नया तो था पर जैसे यह मेरा न था·· मैं बहुत जल्द इस सारे के प्रति उदासीन होने लगा था···इस बात पर मैंने कुछ देर सोचा तो मैं

और बेचैन होने लगा......मुझे लगा कि सोच में चैन और चैन में सोच......यह नहीं हो सकता..... इसलिए मुझे सोचना और बेकरार होना स्वाभाविक लगने लगा था ......मैं सारी रात बेकरार होकर सोचता रहा ...किस बारे में, यह मैं सही तौर से नहीं कह सकता, शायद पांच साल की ट्रेनिंग के बारे में था......बाहर बिताए समय के बारे में कुल मिलाकर मैं कई बातों के बारे में सोच रहा था......कैसे बहुत मुसीबतें झेलता हुआ मैं आज तक महज़ भाग दौड़ में ज़िन्दग़ी गुज़ारता रहा... मुझे अचानक गांव की कच्ची-पक्की सड़क पर इक्के के आगे दौड़ता हुआ कमज़ोर घोड़ा याद आया जिसके मूंह से सफेद झाग सांस फूलने के साथ बराबर निकलती रहती और कोचवान कोड़ों की भरमार में उसे दौड़ाता रहता......मुझे लगा मैं सर से पांव तक एक अजीब गीलेपने से भर दिया गया हूं......मैं अपने दफतर के बारे में सोचना चाहता था...... उन व्यक्तियों के बारे में जिन्हें मैं पाँच साल बाद एक अचम्भे सा मिलूंगा—यकीनन मुझे देख कर वह हैरत से कुछ देर घेरे रहेंगे...... सब से अधिक 'सरप्राइज' मैं उसे ही देना चाहता था......पर इसी बात ने शुरू से ही खिन्न सा बना दिया था ... मुझे अपने बड़े-बड़े दावे याद आने लगे...... मुलाज़िमों की हड़तालों का निचोड़......मेरा यह उज्ज्वल भविष्य। रात गये तक दिलचस्प क़िस्सों वाली किताब खोले मैं अपने ही क़िस्से बुनता रहा। कुछ देर बाद मुझे बिजली की रौशनी एक बोझ सी महसूस हुई। स्विच आफ़ करके मैं बिस्तर में घुसा तो बीवी ने पाँच साला लम्बी आह भर कर कुछ अहसास दिलाना चाहा। मुझे उसकी शिकायत के प्रति अफ़सोस होने लगा......मैंने इन पाँच सालों में बाहर रह कर उसे सिर्फ खाना खाने के समय याद किया था .....वह हर पकवान एक खास ढंग, अपने खास अन्दाज़ से बनाती है......उस तरह से खाने पीने के मुआमले में मेरी रुचि भी कुछ खास बन चुकी थी...आज मैं उसकी किसी बात के प्रति अवहेलना नहीं बरत सकता था। फिर भी न जाने क्यों मानसिक रूप से मैं पूरा अलगाव बनाये हुए था......

'तुम सोते क्यों नहीं' आखिर तंग आकर उसने अपनी झुंझलाहट उगल दी......'तुम सो जाओ'......मैंने अजब हड़बड़ाहट में कहा जैसे उसे मेरी सोची हुई सभी बातों का पता चल गया हो, जैसे उसने मुझे किसी बड़े अपराध को करते पकड़ा हो .... मैं शर्मिन्दा होने लगा......वैसे अभी रात के सिर्फ ग्यारह बजे थे... बाहर मैं कई रातें सो ही न सका था......जैसे किसी आत्मीय व्यक्ति की मृत्यु होने पर आदमी कई रात सो नहीं सकता......उसकी हर एक बात......उसके साथ बिताये .....जिये जिन्दगी के क्षण बराबर डिस्टर्ब करते रहते हैं......बिल्कुल वैसे

ही मुझे अपनी मरी हुई जिन्दगी बराबर सताती रहती ..आज भी कुछ वैसा ही लग रहा है......मुझे लगता है आदमी अपने वर्तमान में मात्र सांस लेता है, जीता तो वह अतीत या भविष्य के सहारे ही है......फिर बारीकी से सोचता हूं तो कोई सूत्र हाथ नहीं आता......न अतीत, न भविष्य, न वर्तमान..... सिर्फ सरकते हुए लम्हे,......फिर क्या बीत जाता है। एक क्षण की दूसरे क्षण तक यात्रा......सिर्फ हम चलते हैं......पथ उतना ही रुका हुआ है......क्या पथ हमेशा ऐसे ही, इतना ही थमा हुआ होता है...... । तंग गलियां......जिन्दगी भर की उलझन...खुली सड़क पर जाकर हमेशा मैं इतमिनान का सांस लेता......जैसे बीहड़ जंगल से खुले मैदान में आकर आदमी मुक्त सा हो जाता है ...कई बातों के सन्दर्भ खोजते रात बीती थी......माया ने करवट बदली और ऊँ हाँ करते बिल्कुल अचानक उठ बैठी.. ... क्या सोच रहे हो। इस बार उसके लहज़े में चिंता का भाव झलका......

—कुछ नहीं.......

—रात भर सोये नहीं, न कोई बात की। मैं डर रही हूं .....

—नहीं......, क्यों ?

—ऐसे ही आपकी तबियत......?

—अरे कोई खास बात नहीं...उमर के साथ साथ नींद भी घट जाती है यह तो पुरानी बात है...

वह एकदम ही जैसे सकते में आ गयी, शायद उसने इस प्रकार कभी सोचा न हो...पर सच तो सच है......

उसने तीसरी बार अपनी कुर्सी को ठीक से साफ किया और बैठकर कुछ खोजते खोजते काम करने लगी। मैंने पुनः पुराने ब्रेंड का सिग्रेट सुलगाया.. बाहर मैं इससे उमदा सिग्रेट पीता था।

—हैलो......

शबीर ने मुझे चौंकाया...

—हैलो...

—कब आये यार

—आज ही

—नहीं, मैं पूछ रहा था बाहर से वापिस कब आये... ?

—दो दिन हुए...

—तुम इतने कमज़ोर क्यों हो... सेहत ?

—बस ठीक हूं...

—कुछ बदल से गये हो, ऑफीसर बनकर .

—हां

—क्यों,..अब पहले से ज्यादा खुश हो ?

—हां ...

—फिर इतने दुबले क्यों हो गये हो...

—कुछ आदमियों पर खुशी का विपरीत असर पड़ता है...

—एक बात तुमने अच्छी नहीं की—

—क्या ?

—यहां नहीं आना चाहिए था तुम्हें, लोग यहां से बाहर भाग रहे हैं.. दिल्ली में रह कर तुम्हारा कैरियर पूरा बिल्ड होता...और पाँच सालों में पूरे सेटिल हो जाते...वहां डी० डी० ए० से फ्लैट भी आसानी से मिलता.. और फिर वहां की ज़िन्दगी ..यहां क्या रखा है...बस सिर्फ ठंडी हवा और बर्फीला पानी...सेहतअफ्ज़ा मुकाम.. सच कहता हूं, बाई गॉड, घर से निकल कर गंदी नालियों से उड़ती हुई बदबू से रोज़ फेफड़े भर जाते हैं...अपने कज़िन को देखता हूं तो कही-सुनी बात पर यकीन आने लगता है ..दो बार बम्बई गया...सिर्फ दो बार 'सेफ' कार में पूरे चालीस किलो बेच आया...च...सें...बच्चे कानवेंट में पढ़ते हैं . अरे अपने गुले को नहीं जानता ..पूरा मुस्टन्डा...सिर्फ एक बजे...चार बजे और सात बजे आध घंटे की सेल ..बस पिकचर पर डिपेन्ड करता है...उसके बच्चे भी.. खैर...।

मैं उससे जो खास बात पूछना चाहता था, उसने पूछने का मौका ही नहीं दिया... अचानक भाग खड़ा हुआ . यह उसकी पुरानी आदत है.. वह शुरू भी अचानक होता है और बात अधूरी छोड़ कर भागता भी अचानक ही है क्यों मेरे साथ हमेशा ऐसा होता है ? मेरी बात अधूरी अनकही सी क्यों रह जाती है ?

वह अपने मिनी बैग से स्वेटर निकाल कर बुनने लगी है...ऊन का रंग... तेज़-तेज़ चलती सिलाइयां..... और बुत सा बना चेहरा.. . मेरी इसी सीट पर एकाउंट्स ऑफीसर ने उसे टोका था...यह हौज़री फेक्टरी है या दफ़्तर ... वह लाल-पीली हो गई थी...झटपट सारी ऊन समेट कर बैग में भर ली थी और मेज़ पर माथा टिका कर बहुत देर बेहिस सी पड़ी रही थी पर आज वह इतमिनान से स्वेटर बुन रही थी...मैंने सामने पड़ी फाइल देखनी शुरू की वही सबसक्राईबर्स के नाम, नाम नए थे पर काम वैसा ही पुराना। जी० पी० फन्ड एकाउन्ट.. मृत्य की

प्रतीक्षा में बैठे लोग.. आखिरी पूंजी समेटते हुए हाथ.. कांपते जीव थर.. थराते हुए हाथ कैसे फाइलों में अटकता रहा इनका जीवन ..?

—मैं पूरे नगर का मालिक रह चुका हूं...यह सब कुछ सदा नहीं रहता मिस्टर.. मेरा काम करने से आप को कोई नुक्सान नहीं होगा..।

—कोई फाइयदा भी नहीं होगा। एकाउन्ट्स क्लर्क ने रिटायर्ड एस० पी० से जैसे पिछले जन्म का बदला लिया...डी० एस० पी०.. जो अब महज़ एक सबसक्राईबर है...इस बात से विचलित नहीं होता . शायद उसने मौसम की तरह समय को समझ लिया है किस आसानी से हम सर्दियां आते ही अपने आप को लबादों में दफ़न कर देते हैं...और कैसे मौसम बदलने के साथ एक के बाद एक तहों से निकलना शुरू करते हैं , यह सब हमारी इच्छानेच्छा पर निर्भर करता है। लेकिन यह सब होकर भी मौसम और ज़िन्दगी जैसे अनबूझे गुज़र जाती है...

डी० एस० पी० अनुभवी आदमी है वह शरीर के ढांचे में फड़कती नसों का रोग जानता है। उसने ज़िन्दगी में अनुशासन की बारीकियों को जाना है. .. एकाउंट्स क्लर्क खुश हो रहा है उसने डी० एस० पी० से हाथ मिलाया.. और डी० एस० पी० संतुष्ट मुद्रा में उससे विदा हुआ...

एक हज़ार से अधिक आदमियों और औरतों के चलते-बोलते चेहरे सांसों के कसाव में मसलते हुए शब्द — एक अंतिम 'एकाउंट' सी बोझिल ज़िन्दगी दरवाज़ा झांकती हुई नज़रें — कुछ कर गुज़रने की तमन्ना दबाये, कुछ न पाने की उदासी और पछतावे से पराजित और कुछ छोटी-छोटी-सुविधाओं से सुखी और सन्तुष्ट.. बहसों के बीच उठते हुए हाथों में उलझी हुई अंगुलियों पर टिके हुए माथे मरे हुए लोगों की कसमों का वास्ता दे दे कर आंसुओं से तर मनाती हुई आंखें...अकड़ा हुआ डॉक्टर . रोती हुई मास्टरानी लाचारी में सबसिटाफ तक का दामन सहारे के लिए पकड़ने दौड़ती है...

—मैं रोज़-रोज़ इतनी दूर से कैसे आ सकती हूं.. कुछ तो तरस खाओ . मैंने सारी उम्र इस डिपार्टमेन्ट को दी तुम जैसे लड़के-लड़कियों को बनाया.. मुझे आज यह मुआवजा मिल रहा है ? मेरा ही पैसा मुझे रुला-रुला कर दिया जा रहा है।

सीनियर क्लर्क पर इन बातों का कोई असर नहीं होता...चिकने घड़े पर पानी की धार...वह इन बातों पर ध्यान दे तो सरकार की नौकरी का क्या होगा चुपचाप न जाने कहां और क्यों कलम घिसाता रहा.. मास्टरानी मायूस और पराजित आंखों उसे देखती हुई प्रतीक्षा करने लगी...

यह प्रतीक्षा और पराजय जैसे मेरे भीतर से उबलने लगी . मैं अजब बेचैनी से तड़पने लगा यह रक़म लेकर वह बड़ी लड़की की शादी करेगी या लड़के को ट्रेनिंग पर भेजेगी या अपना इलाज करवायेगी.. इस रक़म पर जो इसकी.. सिर्फ इसकी है इसका कितना अधिकार रह जायेगा.. बिल्कुल वैसे ही जैसे कई चीज़ों पर जो बहुत अपनी होकर भी अपनी नहीं रहतीं जैसे अपना आप या...मैं प्रतीक्षा कर रहा था वह स्वेटर बैग में रखकर कब मेरे पास शैड्यूल चेक करवाने आयेगी...

पर यह दफ्तरी फाइलों और एकाउंटों की सड़क है.. यहां कोई निजी गली नहीं सब कुछ इतर की उड़ती हुई खुशबू सा सचमुच वह मात्र एक फाइल है... मेरे हाथों में से गुज़र कर मेरे हस्ताक्षर ढोने वाली एक नामुराद चीज़...

उसके चेहरे का चुलबुलापन एक सपाट और भावशून्य संजीदगी में बदल गया है। अब वह हर पांच मिनट बाद मेज़ पर कोहनी टिका कर कुछ सोचते हुए फाइलें पलटने लगती है। उसकी नज़रों का उत्सुक कौतूहल बुझा-बुझा सा लग रहा है। पर उसके माथे पर जीवन से हारने वाले वे बल नहीं दिखते जो मैं आईने में खुद अक्सर देखता हूँ

मैं अपने टेबुल पर रखे उस टुकड़े को देखता हूं जिस पर लिखा है 'एकाउंट्स ऑफ़ीसर' ज़िन्दगी का आखरी पड़ाव उपलब्धियों की चरम सीमा दुबला आदमी... छरहरा आदमी मोटा आदमी...टुकड़े काटते आदमी...

शेड्यूल मेरी टेबुल पर था . पर वह मेरे पास नहीं आई उसकी लिखावट में मुझे ऐसे अक्स मिल रहे थे जो बहुत पुराने परिचय के थे।

—ओपनिंग बेलन्स...निल . इन्ट्रस्ट ?...मिस ? इसके बाद हवा जैसे थम गई हो आवाज़ों का सिलसिला जैसे टूट चुका हो न मैं उसे देख रहा था न वह मुझे देख रही थी ..पर जाने क्यों ऐसा प्रतीत हो रहा था कि हम दोनों अनजाने ही एक ही चीज़ को देख रहे हैं...पर इस बीच जो फासला हम दोनों में और उस चीज में है वह नक्षत्रों से भी कहीं ज्यादा लम्बा हो गया था।

सिर्फ बारह वर्ष पहले, जब मैं इसी कमरे में उसके साथ टेबुल के इलावा भी बहुत कुछ शेयर करता था ..

उन दिनों मैं नौकरी के इरादे से नहीं बल्कि समय गुजारने के इरादे से दफ़तर आया करता था ..यह सब एक मशगला था.. पर समय अपने साथ जो कुछ बहा ले जा रहा था ..उसका अहसास आज मुझे रातों की नींद से वंचित कर रहा है—

सामान्य रूप से तो अन्तर इतना ही आया कि उसके साथ 'शेड्यूल' बनाने के स्थान पर अब मैं 'शेड्यूल' चेक करता हूं –

किन्तु ..जीवन...वह पूंजी सरकती गई.. और ऐसा भी समय आया कि सब कुछ फटे चीथड़ों सा बेहाल हो गया.. बिलकुल कंगाल.. आज...एक दूसरे के लिए सान्त्वना के दरवाज़े बन्द...वही लहू जो एक ही गति पर दौरा करता था आज अपरिचित बन गया है.. क्यों इतनी निर्लज्जता है ? क्यों इतनी असहायता है...क्या दोष है हमारा ?...

सभी अपने टिट-बिट्स' समेटने लगे थे...सब घर जाने की पूर्व भूमिका में थे— मुझे वही पुराना अनिश्चय घेरे हुए था

कमरे के बाहर हाल के बरामदे पर मैंने उसे ज़िन्दगी में दूसरी बार रोका... पर वह ठिठक कर तेज़ी से निकल गई ..

मैं अनमने भाव से सीढ़ियां उतर कर सड़क के किनारे बने नए रेस्तरां में घुस गया...बहुत देर तक चाय की प्याली को देखता रहा · पता नहीं चाय की प्याली पी थी या मुझे इतमिनान होने लगा कि मैंने कोई भूल नहीं की थी... और उसने भी कुछ अनुचित नहीं किया बहुत थकान लाचारी और विवशता में... ऐसे सफर में जहां आदमी अकेला चल रहा हो · नींद आने पर बिना छत बिना बिस्तर आदमी लेट कर पत्थर पर सर टिका कर कुछ देर सो सकता है पत्थर कभी सिरहाना नहीं हो सकता...! बारह वर्ष पहले इसी बरान्डे की बारह पायदान वाली सीढ़ियों के बीच जब मैंने उसे पहली बार रोका था तब भी वह ठिठकी थी किन्तु ठिठक कर रुक गई थी .

—क्या है ?

मैंने हाथ में रखा पुर्ज़ा निकाला था...

—मेरे पास ऐसी फ़िज़ूल की बातों के लिए न समय है न ज़रूरत इस खेल में दिलचस्पी रखने वाली हमारे दफ़्तर में और बहुत सी लड़कियां हैं ।

—तुम गलत समझी हो···यह खेल नहीं है...तुम इसे एक बार पढ़ लो··· यदि तुम्हें बुरा लगे तो कल मेरे सामने इसे बुखारी में जलाना·· नहीं तो मुझे जवाब देना···अगर तुम चाहो तो मैं इसे नहीं भी देता हूं···क्योंकि मैं यह बात साफ शब्दों में भी कह सकता हूं ?

उसने लिफाफा लेने के लिए हाथ बढ़ाया.. मैंने वहीं पर नोट किया कि उसके हाथों में वैसी कोमलता नहीं जैसी उसके सारे साँचे में है....उसके हाथ बिलकुल घरेलू से हैं...

जवाब की प्रतीक्षा.. चान्द पर कदम रखने की प्रतीक्षा से कम न थी...

वह दो रोज़ मुझे नहीं मिली— शायद यह 'नो लिफ्ट' वाली बात हो...या कुछ...मैं समझा नहीं...पर दो रोज़ बाद जब वह दफ़्तर आई तो उसने मुस्करा कर मुझे देखा...बुखारी की लपटों से मुझे तनिक भी डर नहीं लगा.. और मैं एक अजीब रोमांच से भर गया .

वह मेरे पास आकर कुछ देर चुप बैठी रही मैं भी कुछ पूछने की स्थिति में न था...अन्त में उसने जाते समय कहा .. मुझे चार बजे प्रदर्शनी में मिलना ..

यही रौशनियां अंधेरा होने पर रंगों में तबदील होंगी...सारा 'ग्राउन्ड' अंधेरे में खिल उठेगा। .. और अभी दिन का खासा हिस्सा शेष था प्रदर्शनी स्थल में हम एक दूसरे के बहुत निकट बैठे थे पर अभी हम बहुत दूर थे...कोसों...मैंने यह दूरी साफ़ शब्दों में समेटनी चाही थी....

- 'मेरा आशय...साफ़ है... मैं तुम से शादी करना चाहता हूं...?'

—आपने खत में यही, इसी तरह लिखा हुआ है...

—'ओ हां फिर क्या सोचा तुमने '

—'आपने फैसला सोच समझकर किया है या '

—'बहुत सोचा-समझा नहीं हां तुम्हारे बारे में अपने सूत्रों से थोड़ी सी आवश्यक जानकारी ज़रूर इकट्ठा की।'

—'जैसे !'

—'तुम...कैसी हो...क्या हो.. स्वभाव.. चरित्र . घर . वगैरह-वगैरह।'

—'तब ?'

—'सब कुछ अपने अनुरूप पाया...' किन्तु अपनी ओर से एक डर सा समाया था... मैं अपने बारे में तुम्हें बताना चाहता हूं कि मैं...

—मैं जानती हूं सब कुछ.. उस बात का शादी से कोई सम्बन्ध नहीं...आपके पिता मेहनत और मज़दूरी का खाते हैं...दूसरों की तरह...खैर...'

— तो मैं.. आपके घर...

—नहीं . अभी एक...खास बात...मतलब...आप यह भी जानते होंगे कि घर में मेरी स्थिति क्या है...

—'कुछ ..कुछ...'

—मेरी बहुत लाइबलटीज़ हैं कुछ ऐसे सूत्र जिन्हें मैं नहीं छोड़ सकती .

—अर्थात ?

—बाबू जी की मृत्यु इसी दफ़तर में काम करते हुई थी। तब मैं प्रथम वर्ष में थी .. हमारी सारी ज़िन्दगी बदल गई हमदर्दी के तौर पर मुझे यहां टाइपिस्ट की जगह मिली...मेरी सारी ज़िन्दगी का रुख बदला महत्वाकांक्षायें मां की सुबकियों और बहनों की ..लाचारियों में दब गईं .. मैं अभी खुद बनने की प्रक्रिया में थी कि मुझे सब कुछ बनाना पड़ा.. परिवार के लिए मैं अकेली ईंधन हूं...

—'तो तुम्हारा मतलब.. '

—'मैं किसी के घर नहीं जा सकती .

—मगर क्यों ?...बात सीधी सी है लाइबलटीज़ शेयर करने की.. मैं तुम्हें हर प्रकार से मौखिक ही नहीं लिखित रूप से भी यह आश्वासन दूंगा— कि तुम्हारी .. सारी लाइ..

—'नहीं...ऐसा नहीं हो सकता '

—'मेरे भी कुछ सूत्र हैं . पिता जी अक्सर बीमार रहते हैं घर की आर्थिक स्थिति खराब है और फिर ऐसी हालत में . ?

—'आप सोच लीजिए.. मैं भी सोचूंगी.. ?'

इस तरह सोच के हवाले किया हुआ फैसला मात्र सोच बनकर रह गया...

—खीझ.. झुंझलाहट.. अनिश्चय की छटपटाहट मुझे बौखला रही थी...ऐसी ही स्थिति में मैंने अपनी शादी की रज़ामन्दी ऐसी लड़की के लिए दी.. जिससे मेरा देखने भर तक का पूर्व परिचय था वह मेरे मुकाबले कम पढ़ी-लिखी ही नहीं रुचियों में भी भिन्न थी— बहुत हठधर्मी वाली !... अन्त तक मैं किसी ऐसी स्थिति की प्रतीक्षा करता रहा जिससे नियति अपना रुख मोड़ दे— पर हालात के हवाले किया हुआ जीवन सिर्फ हालातों में चक्कर खाता है और हालात सरासर मेरे प्रतिकूल थे—

मेरी शादी का समाचार मिलते . वह लम्बी छुट्टियां लेकर घर में पड़ी रही...और बहुत दिनों बाद जब मैंने उसे देखा तो मैं...

उसका चेहरा लम्बी खरोंचों से नुचा हुआ था—वह कह रही थी 'ऐक्ज़िमा' निकला है और लोग ..उसको अविश्वास से दवाईयां सुझाते हर दिन वह अपने हाथों अपना बलात्कार करती...हर रोज वह अधिक सिमटी हुई.. दफ़तर आती.. मेरा ख्याल उसके दिमाग में दूर तक कहीं न था . वह केवल अपने अकेलेपन...और अपनी

अजनबी दुनियां की वीरानियों में तड़पने लगी थी·· उसने अपनी नियति को पहचाना और उस पर विश्वास करना शुरू किया था·· उसका सुख उसका संसार कुछ अदना ज़िन्दगियों के लिए मिट रहा था

आज न वे सूत्र कहीं हैं न वे मजबूरियां पर उन मजबूरियों ने जो कुछ तोड़ा उसके टुकड़े हैं हम !

अभिलाषा का अधूरापन ज़िन्दगी को कितना भयावह बनाता है उस स्थिति में तो और भी अधिक जब उसकी स्मृति के अतिरिक्त सब निःशेष हो। उसने अपने शरीर के दायरों को घरेलू व्यस्तताओं में संकुचित कर दिया था...वह अब बहुत कम बोलती · किन्तु उसकी आंखें निर्जन शून्य की तरह डूबी हुई लगती हैं···

मैंने उसे रोक कर अपराध नहीं किया था, वह सिसक कर भाग गई उसने भी अनुचित नहीं किया— शायद यह दोहरी स्थिति ही अब हमें सम्भाले है। पर उसकी भ्रांति ? मैं कैसे दूर करूँ ?

—मैं उससे पूछना चाहता हूं 'क्या मक्सद था उन कुर्बानियों का ? .. क्या मिलता है इन सब बातों से ?' —दूसरे रोज़ दफ़तर में हमारे कमरे में निहायत ही नई नवेली सजी संवरी दुल्हिन सी बनी एक स्त्री बैठी थी मेरे अन्दर आते ही उसने अपना परिचय दिया मैंने उसे बिठाया 'वह थोड़ी देर में आ रही होंगी' कहकर मैंने उसे नखशिख देख लिया...

'आप यहां पहले भी '

'जी हाँ क्यों क्या बात है ·

'जी कुछ भी नहीं ..

'पूछ लीजिए बात मन में रखने से

'जी दीदी और आप मेरा मतलब है आपकी फिर शादी हो गई थी '

'जी हां लेकिन आप इस बात को

'एक रोज़ दीदी ने आपको देखने के लिए

'तो उस रोज़ आप ही.. अच्छा... आपकी दीदी ने.. बड़े तप और त्याग का जीवन अपनाया.. आप सबके लिए.. अब आप उसकी शादी.. क्यों नहीं कर देते . ?'

'जी हां···आप सही कहते हैं · उन्होंने हमारे लिए अपना यौवन अपना रूप सब कुछ···पर वह अब भी समझौता नहीं करना चाहतीं '

'किससे...'

'स्थिति से..'

'मतलब ...'

'वह...बहुत...'अनरियलिस्टिक' सी है...अब इस उम्र में...वे महत्वाकांक्षायें रखना... जो एक खास...एक पर्टीक्यूलर एज '

—कैसी महत्वाकांक्षायें ?

'यंग हस्बेन्ड.. माने.. अपने बराबर का . अपनी रुचि का.. '

'तो क्या महज़ शादी के लिए...शादी...'

'और क्या होता है अक्सर हम जैसे आदमियों के साथ...'

'क्यों आपकी शादी . ? मतलब आप सन्तुष्ट नहीं हैं ?'

'हूं...तो...पर दीदी ने उस समय बहुत जल्दबाज़ी से काम लिया.. बहुत कुछ स्थिति पर छोड़ दिया ..बेकार नियति का दामन पकड़ा हरीष बुरा लड़का नहीं था...'

'तो क्या आपकी शादी...?'

'हरीष से नहीं हुई...क्योंकि उसे दीदी आवारा समझती थी मैं उसे अच्छी तरह जानती थी.. वह स्वभाव से ही मस्तमौला था पर वह बहुत पुशिंग और लविंग था... मुझसे बहुत खैर . '

'ओह दीदी.. !'

दोनों बहने गले मिलीं जैसे दोनों के बीच किसी प्रकार की किसी शिकायत की कोई गुंजाइश न हो दोनों ने एक दूसरे से खुलकर और बराबर स्नेह के साथ बातें कीं... छोटी की आंखें किसी प्रसंग पर छल-छला गईं और दफ़तर के अन्य साथी.. थोड़ा डिस्टबेंड फील करने लगे। बड़ी ने सांत्वना का हाथ उसके कंधे पर रखा कुछ देर बाद दोनों बहुत देर तक गुपचुप बैठी रहीं...

—अन्त में बड़ी ने उसे समझा-बुझा कर वापिस घर भेज दिया।

उसने अपना माथा दोनों हाथों में भर दिया और फूट-फूट कर रोने लगी... आज वह किसी से नहीं कह पा रही थी कि उसके माथे पर 'एक्ज़िमा' निकला है... ।



—देना बैंक, श्रीनगर

महानगर : चार कविताएं

—रतनलाल शांत

एक

एक आत्मा
इस तंग ज़मीं पर जन्म लेकर बदल जाती है
और किसी सुनी सुनाई किताब के रास्ते
वापस तपोवन नहीं लौटना चाहती ।
यहां इसे नींद आती है
और फुटपाथ के सिरहाने
या नाली की सूखी सिलवट में
या तंग गली-सड़क ओढ़कर
सो जाती है ।

दूसरी आत्मा
यानी जिसके दिमाग के आरामतलब कोष्ठ
अजर अमर वगैरा वगैरा मादे से भरे हैं,
सो नहीं पाती :
उसका दिन
बली मांस-पेशियों के धंधे में निकलता है
और रात का पल पल
उनकी लाल, उनींदी पलकों में नशा बोने में ढलता है ।

आकाशी भवनों में भी

इन्हें खुद चैन नहीं
केवल किताब के रास्ते लौटने का है
इन्हें संबल।
मगर
तंग ज़मीं पर दिन नहीं हैं अगर
तो खुले आकाश में रैन नहीं।

●

दो

तुमने
इसकी आंखों के लाल डोरे नहीं पढ़े
बल्कि इसके कुछ चित्र गढ़े
और इसे दुत्कार दिया ;
इसके गले में छींट का रुमाल बंधाया।
दान्तों में बीड़ी पकड़ाई
और कानून की भारी किताब में
मक्खी की तरह मार दिया।

मैंने
इसके डंक से
ऊंची खिड़कियों के कांचों में दरार डलवाई
और अपना कमरा संक्रामक हवा से बचाया
पर्दों के पीछे छिपाया।

तुमने
आंखें फैलाकर कहा—
'खुदा की कैसी मखलूक है !
बदन पर न हया है
मुख में बस भूख है।'
और इस पर अपनी लंबी श्वेत दाढ़ी का
साया फैलाया।

इसकी बस्ती में एक पीपल को सिंदूर से पोत दिया
आकाश के एक हिस्से में
कटार जैसा प्रेरक
एक बांका चांद लगा दिया ।

तुमने और मैंने मिलकर
सड़कों के ये फुटपाथ नापे हैं
मैंने इनके अंगारे फूंके
अपनी सांस बचाई
तुमने भी खेला दांव
इन्हें भाषा के जंगल में बुलाया
और अर्थ की छायाओं में सुलाया ।
इनकी जीभ में शब्द की नथ पहनाई
कान में अर्थ का सीसा डाला
माथे पर शब्द की लौ जगाई
मन में अर्थ की मिट्टी भर दी ।

मैं तुम्हें पहचानता हूं
मैंने रावण को भेस बदलते देखा है
पर मेरे गले में पड़ी सफेद सिलवट
मेरी लक्ष्मण-रेखा है,
वरना
मैंने अपने पाजामे में उतनी ही सभ्यता छिपाई है
जितनी झुग्गी झोंपड़ी की छत की
ऊंचाई है ।

●

तीन

कहीं कुछ नहीं होता हो,
पर यहां
लोहा और सीमेंट घटना है ।

स्काई स्क्रैपर के सामने खड़े होकर
तुम अपने हाथों को
चूमने के बजाय
इनसे डरते हो
और तुम्हारी सोच में आ जाती है मोच।
तुम कराहते हो
तथा अघटना के शून्य को भरने के लिए
हाथों का घेरा
अपने गले के गिर्द डालते हो।

ऊपर,
साठवीं मंजिल देखते हुए
जब तुम्हारी टोपी
सिर से गिर पड़ी है
तो पीछे खड़े,
दान्त निपोरते,
मैले कुचैले शहर को पहचाना है ?
उसी ने तुम्हारी कीचसनी टोपी
धो-साफ कर तुम्हारे सिर पर पहनाई है
और तुम्हारे सिमटे मुख पर
मुस्कान लौटा लाई है।

●

चार

बहुत दिन हुए
तब सिर्फ भूगोल था
समंदर मीठा था
लालची किनारा पानी में दूर दूर तक निकल गया।
फिर इतिहास आया
पानी खारा हो गया

किनारे के हाथ उग आये
हाथों पर नाखून उगे
नाखून खारे पानी को नोचने लगे
और निचोड़ तट पर भेजने लगे।
तट पर रोंए उग आए
उनके बीज नालियों की मेंडों में बोए गए थे।
फिर धूप और हवा में
छीना झपटी हुई
न्यायी पहरेदार बिजूखे
जाने कहां से फूट आए
रोंए डर गए
और समंदर में नाखूनों के पास चले गए
और खारापन भांपने लग गए
उनकी भी नज़रें कड़वी हुईं
सांसें खारी हो गईं
मांस पोला हो गया
हड्डियां नाज़ुक हो गयीं।
किनारा पहरेदार बिजूखा हो गया
और खुश है
कि रोंए अब डूबेंगे ही
नाखून नोचकर लाएंगे ही समंदर का निचोड़।
मगर नाखूनों में भी कभी
खुर्चन पूरी भर जाएगी
कोढ़ी जैसी उंगलियां फिर
मर जाएंगी।

— 55-वडियारबाला, श्रीनगर



इस ग्रंक के विशिष्ट रचनाकार

कहानीकार श्री हरिकृष्ण कौल

—डॉ० सोमनाथ कौल

स्वतंत्रता के बाद भारत के जिन हिन्दीतर प्रांत के लेखकों ने हिन्दी कहानी को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया उनमें श्री हरिकृष्ण कौल प्रमुख हैं। कौल जी संक्रमण काल की पीढ़ी के साहित्यकार हैं। उन्होंने जीवन के तेरह-चौदह वर्ष पराधीन भारत में गुज़ारे किन्तु चेतना के जागृत होने पर उन्होंने स्वतंत्र भारत में वह सब कुछ देखा जोकि आधुनिक संवेदना का हिन्दी-लेखक देखता और भोगता आ रहा है। उन्होंने आदर्श, मोह तथा ऐसी ही दूसरी स्थितियों की परिणति अनादर्श एवं मोहभंग में देखी है। इधर उनका व्यक्तिगत जीवन बहुत ही दारुण एवं यातना-पूर्ण रह चुका है। अपने परिवार में उनका जन्म उस समय हुआ जबकि इनका घर आर्थिक विषमता के भार से टूट रहा था। उन्हें ग़रीबी की स्थिति का आत्म-स्वीकार है।[1] पस्ती की हालत ने उनको मानसिक तनावों की प्रक्रिया से गुज़रने के लिये अभिशप्त-सा बना दिया है।

कौल जी व्यष्टि एवं समष्टि दोनों के कलाकार हैं। जीवन की सही तथा मर्मान्तिक तस्वीर को प्रस्तुत करने के लिये एवं बिम्ब-ग्रहण की सृष्टि के लिये उन्होंने व्यष्टि की बारीकियों (प्रश्न-अप्रश्न, सोच, चिन्तन, समस्यायें आदि) को बहुत ही ईमानदारी से प्रस्तुत किया है। उनका व्यष्टि-सत्य केवल 'व्यष्टि' तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता बल्कि इसके माध्यम से उन्होंने समष्टि-सत्य के दूरगामी संकेत

1 "बचपन में (मैंने) बहुत ग़रीबी देखी है।"—दे०
'गर्दिश के दिन' : सारिका, जून 24, 1977 ; पृ० 54।

भी दिये हैं। 'इस हमाम में', 'नायक', 'यज्ञ और टोपी' तथा ऐसी ही दूसरी कहानियों में श्री कौल ने सीमित परिवेश के माध्य मसे व्यापक सत्यों की ओर संकेत किये हैं।

कौल जी की कहानियों का स्वर प्राय: अद्यतन है। उनकी रचनायें आज के जीवन के समानान्तर चलती दिखाई देती हैं। हिन्दी के स्वातंत्र्योत्तर कहानीकारों ने अन्य अनुभवों के अतिरिक्त जिस विषम अनुभव को तीव्रता के साथ महसूस किया तथा अभी भी कर रहे हैं उनमें से एक कटु अनुभव प्रशासन एवं राजनीति के क्षेत्रों में भ्रष्टाचार है। कहानीकार को यह महसूस हो रहा है कि परतंत्र भारत में जिन राष्ट्रप्रेमियों ने देश को स्वतंत्र करने में कुछ योगदान दिया, स्वतंत्र भारत में अब वे उसका हज़ारगुणा पारिश्रमिक मांग रहे हैं। इसको वसूलने के लिये वे अन्धी मशीन की तरह उचित-अनुचित का विचार किए बिना आम जनता को कुचलने-रौंदने में कोई कसर बाकी नहीं रखते हैं। वास्तव में ये झूठे, मक्कार राजनीतिज्ञ एवं तथाकथित राष्ट्रप्रेमी स्वयं अनुचित करते नहीं दिखाई देते हैं। वे देखने में आदर्श के प्रतीक-से लगते हैं। वस्तुत: इनके अपने कार्यकर्त्ता होते हैं जोकि कुत्तों की तरह इनके टुकड़ों पर पलते हैं और अपने आका के इशारे पर कोई भी घिनौना कार्य करने के लिये तैयार हो जाते हैं। आर्थिक विषमता से ग्रस्त ये प्राय: निम्न वर्ग अथवा निम्न-मध्यवर्ग के लोग होते हैं जोकि कोई भी निकृष्ट कार्य करने के लिए अभिशप्त होते हैं। कौल जी ने इन वर्गों के निस्सहाय, क्षयी एवं शून्य प्रत्ययों को प्रामाणिक अनुभव के निकष पर कसकर अपनी कई कहानियों में प्रस्तुत किया है। 'यह साहब वह साहब' कहानी में जिन दो राजनीतिज्ञों को प्रस्तुत किया गया है, वे परस्पर एक-दूसरे के विरोधी दिखाई देते हैं परन्तु वे विरोधी हैं नहीं। उनमें से एक महाशय सत्तारूढ़ पार्टी के मंत्री हैं तो दूसरे सत्तारहित पार्टी के नेता। उनकी बातों से पता चल जाता है कि वे आम जनता को बहकाते हैं। उनके ही संकेतों पर दो विरोधी दलों के कार्यकर्ता आपस में लड़ते हैं, जिनमें से कई ज़ख्मी हो जाते हैं और दूसरे कई पुलिस द्वारा गिरफ्तार भी किये जाते हैं। कहानी का एक स्थल इस प्रकार है, "सहसा दोनों को बाहर से आता कोई शोर सुनाई दिया। शोर का कारण किसी की समझ में ना आया। वे हैरानी से एक-दूसरे का मुँह देखने लगे।

शोर बढ़ता ही गया। दोनों परेशान हो गये। पाइप वाले साहब ने नौकर को बुलाकर उसे शोर का कारण मालूम करने के लिये बाहर भेजा।

---

1. दे० सारिका; अक्तूबर, 1974, पृ० 76।

नौकर दस-पन्द्रह मिनट के बाद कारण मालूम करके लौटा— जनाब, इधर से आपके समर्थकों का जुलूस निकल रहा था। उसने अपने मालिक से कहा—वे लोग नारे लगाकर आपको ज़िन्दाबाद बोल रहे थे। ज्योंही वे चौक में पहुंचे उन्होंने दूसरे रास्ते से इनके समर्थकों का जुलूस आता देखा। नौकर ने सिगरेट वाले साहब की ओर इशारा किया।

—फिर क्या हुआ ? सिगरेट वाले साहब ने पूछा।

—फिर क्या होना था, साहब ; चौक में पहुंचकर दोनों जुलूस रुके। दोनों ओर से ज़ोर-ज़ोर से नारे लगाये जाने लगे। ज़िन्दाबाद और मुरदाबाद होने लगी। फिर एक-दूसरे पर झपट पड़े। पत्थर और खाली बोतलें बरसने लगीं। सुना इक्तीस व्यक्ति घायल हो गये जिनमें ग्यारह की हालत बहुत खराब बताई जाती है।"[1]

कहानीकार जहां एक ओर समसामयिक हैं, वहां दूसरी ओर उन्होंने आधुनिकता से उत्पन्न स्थितियों को चुनौती के रूप में स्वीकारा है, उनसे मुँह मोड़ा नहीं है। आधुनिक वैज्ञानिक जीवन ने हमें जो वरदान प्रदान किये हैं उनमें एक यह है कि आजकल हम जिन चेहरों से साक्षात्कार करते हैं, वे सभी मुखौटे हैं। असली चेहरा न जाने विस्मृति के गर्त में कहां डूब चुका है। कहानीकार ने 'नायक' नामक कहानी के माध्यम से आवरण और मुखौटों के नीचे छिपे समय और परिवेश के नग्न यथार्थ को समझने की कोशिश की है। कहानीकार ने प्रस्तुत कहानी के प्रोफेसर की वास्तविकता को इतना बेनक़ाब कर दिया है कि अगर कहीं-कहीं सच्चाई और असलियत पर हल्का झीना-सा पर्दा डाला भी गया है, तो उससे वस्तुस्थिति और भी नग्न हो जाती है। प्रस्तुत कहानी का प्रधान पात्र (प्रोफेसर) जिस प्रकार अपने बारे में तथा दूसरों के बारे में निस्संकोच मानवीय दुर्बलताओं से परिचित कराता है, उससे इसका सृजन व्यंग्यात्मक स्तर पर हो उठता है। वह नाटक देखने के लिये थियेटर में कुर्सी पर बैठा हुआ है। उसकी अगली पंक्ति की बिल्कुल पास वाली कुर्सी पर उसके कालेज का चपरासी बैठा हुआ है। प्रोफेसर यह सहन करने को तैयार नहीं कि उसका चपरासी भी उसके संग नाटक देखने का आनन्द उठाये। उसके ही शब्दों में, "यदि वहां मिनिस्टर या डायरेक्टर का चपरासी होता तो कोई बात नहीं थी। मैं अनुरोध करके उसे बग़ल वाली सीट पर बिठाता। शायद उसे सिगरेट भी पेश करता। मगर वह मेरा अपना चपरासी था।"[2] लगता है कि कहानीकार में इन मुखौटों को बेनकाब करके असली चेहरे को तलाशने की छटपटाहट है।

---

1. "यह साहब वह साहब"—दे० सारिका, अक्तूबर '74 ; पृ० 74।
2. इस हमाम में : हरिकृष्ण कौल ; पृ० 81।

कौल जी की कई कहानियों में निम्न-मध्यवर्ग की पस्ती, आर्थिक संकट, अंध-विश्वास, आडम्बरपूर्ण जीवन, तनाव-दुराव की स्थितियां, अस्तित्व का संकट तथा ऐसी ही दूसरी बातों पर प्रकाश डाला गया है। अन्य कहानियों के अतिरिक्त कौल की जो कहानियां पाठकों एवं समीक्षकों का ध्यान आकर्षित करती हैं उनमें से प्रमुख हैं— 'टोकरी भर धूप', 'भय', 'एक नग्न कथा', 'विश्वास' तथा 'दांव' आदि।

श्री हरिकृष्ण कौल की कहानियों का अध्ययन करके उनके रूपबंध की सामान्य प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं का परिचय प्राप्त हो जाता है। यों उनकी रचनाओं को 'शिल्प तथा विषय' जैसे अवयवों में काटकर उनका विवेचन करना ठीक नहीं दिखाई देता है। इसका कारण यह है कि उनकी रचनाओं में वस्तु तथा शिल्प की बारीकियां एक-दूसरे को इस सीमा तक भेदती-काटती हैं कि उन्हें अलग-अलग करके देखना उचित नहीं दिखाई देता है। फिर उन्हें 'कहानी' लिखनी होती है, नई संवेदना की कहानी। उनकी कहानी की स्थिति ही सम्भवत: यह निर्णय करती है कि संवेदना को सम्प्रेषित करने के लिये उसे कौन सा शिल्प अपनाना है। तात्पर्य यह कि कौल का आरोपित शिल्प के प्रति कोई पूर्वाग्रह नहीं है। वे भावुक कम किन्तु संवेदनशील अधिक दिखाई देते हैं। अपनी रचनाओं में लेखक ने तटस्थ वैज्ञानिक दृष्टि को अपनाया है। प्रामाणिक अनुभूति के निकष पर कस कर ही वे अपनी संवेदना को कहानी के माध्यम से वाणी देने की कोशिश करते हैं।

कौल महोदय की कहानियों में कथानक कम किन्तु कथ्य अधिक है। उनकी रचना जिस बिन्दु से शुरू होती है, प्राय: उसी पर समाप्त भी हो जाती है। उनकी कहानी का फलक प्राय: सपाट तथा सीधा नज़र आता है। वे आकस्मिक उतार-चढ़ाव, औत्सुक्य तत्त्व आदि से भी मुक्त नज़र आती हैं। कहानीकार ने अपनी रचनाओं में युगीन संकेतों एवं प्रतीकों का यत्र-तत्र प्रयोग किया है, जिनसे कहानियों की संवेदना में सघनता आ गई है। मगर ये सकेत एवं प्रतीक इतने सूक्ष्म होते हैं कि सामान्य बुद्धि इन्हें संकेत तथा प्रतीक मानने को तैय्यार नहीं होती। इस संदर्भ में हम कहानीकार की 'भ्रातृघाती'[1] कहानी को देख सकते हैं।

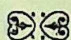
कौल की कहानियों के पात्र प्राय: सामान्यज न होते हैं। वे किसी धीरोदात्त पात्र की तरह कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने की क्षमता नहीं रखते। वे जीवन को झेलते हुए नज़र आते हैं। उनके सामने प्रश्न हैं, समस्यायें हैं किन्तु कोई दैवी एवं आदर्श समाधान अथवा उत्तर नहीं है। कौल की लेखनी उनके पात्रों के वश में है।

1. नीलजा—4, 1978-79 ; पृ॰ 60।

अत: वे पात्रों को सही रूप में प्रस्तुत करते हैं, उनको गढ़ते नहीं। उनकी कहानियों के संवाद उनके पात्रों के अपने हैं, अत: वे सच्चाई तथा असलियत के नमूने हैं। ये संक्षिप्त तथा सरल होने के साथ-साथ कहीं-कहीं एब्सर्ड भी दिखाई देते हैं। कहानीकार की कृतियों का वातावरण प्रतीकात्मक होता है। यों लेखक को विशिष्ट शैली के प्रति आग्रह नहीं है। समय तथा स्थिति के अनुसार उनकी शैली परिवर्तित होती रहती है। उनकी कहानी के सभी तत्त्वों में एक अन्विति होती है और इस प्रकार रचना के रागधर्म को बढ़ाने में सहायक सिद्ध होते हैं।

कौल जी के कहानी-साहित्य की कुछ सीमायें हैं। वे प्राय: जिस कश्मीरी परिवेश की कहानियां प्रस्तुत करते हैं उनमें एक विशेष प्रकार का आंचलिक रंग होता है। चूंकि भाषा तथा संस्कृति का आपस में चोली-दामन का सम्बन्ध होता है, अत: किसी परिवेश की संस्कृति को जानने के लिये उससे सम्बन्धित भाषा का सहारा लेना आवश्यक होता है। कौल महोदय कश्मीरी हैं। उनकी कहानियों में उनका परिवेश मुखरित है—इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं। उनकी कई रचनाओं में व्यष्टि तथा समष्टि दोनों का सामंजस्य तो है किन्तु व्यष्टि के अन्तस में डूबकर लेखक ने उसको हमारे सामने प्रस्तुत नहीं किया है। इन इनी-गिनी सीमाओं को यदि छोड़ दें तो कौल का कहानी-साहित्य सशक्त माना जा सकता है। वे कश्मीर के एकमात्र ऐसी हिन्दी कहानीकार हैं जिन्हें अखिल भारतीय स्तर पर कहानीकार के रूप में मान्यता प्राप्त हो चुकी है। हिन्दी जगत को उनसे बहुत सी आशायें हैं। हमारी उनसे यह अपेक्षा है कि वह हिन्दी कहानी साहित्य को और अधिक समृद्ध बनाने में अपना योगदान निरन्तर देते रहेंगे।

—हिन्दी विभाग
कश्मीर विश्वविद्यलय,
श्रीनगर।



कहानी

संदेश

—हरिकृष्ण कौल

कह नहीं सकता कि उसने सचमुच दरवाज़ा खटखटाया था या मुझे ही ऐसा महसूस हुआ था। बिस्तर से निकलकर मैंने तुरन्त कपड़े पहन लिये और किवाड़ खोलकर कमरे से बाहर आ गया।

वहां वह खड़ी थी। उसने कुछ नहीं कहा। मैंने भी कुछ नहीं पूछा। बात पूछने-कहने की सीमा से परे साफ और निश्चित थी। मैं कल शाम से ही जैसे उसकी प्रतीक्षा कर रहा था।

'चलो', मैंने कहा और उसके पीछे-पीछे उसकी कोठरी तक गया। कोठरी में मिट्टी का दीया जल रहा था और उसकी फीकी रोशनी में मैंने भी ज़मीन पर पड़ा बाबा का निश्चेष्ट शरीर देखा। उनकी टोह लेतीं, टटोलतीं आंखें मुंदी थीं और इतने वर्षों तक बंद रहने वाला मुंह खुला था।

मुझे लगा कि कुछ न कुछ करना चाहिए...कुछ न कुछ कहना चाहिए। पर क्या करूं ? क्या कहूं ? तभी मन में एक विचार कौंधा। मैंने सुझाया कि दीया बाबा के सिरहाने रखा जाये। उसने वैसा ही किया। उसे भी शायद मालूम था कि ऐसे अवसर पर कुछ ऐसा ही किया जाता है।

'इनका मुंह खुला है !' उसने कहा।

'हां, बाबा ने आखिरकार वह बात कहने के लिए मुंह खोला होगा जिसके लिए हम सब इतने वर्षों से उतावले थे।' मैंने अपना मत प्रकट किया।

'नहीं', उसने प्रतिवाद किया— 'बाबा को अभी तक उन लोगों की प्रतीक्षा

है। जब तक वे इनके मुंह में बूंद दो बूंद पानी नहीं डालेंगे, इनका मुंह इसी तरह खुला रहेगा।'

मैंने नहीं सोचा था कि बाबा का मुंह खुला रहने का एक कारण यह भी हो सकता है। मुझे जैसे सहारा मिल गया। मैं उसे उस कोठरी में लाश के साथ अकेली छोड़कर उन लोगों तक बाबा की मृत्यु का समाचार पहुंचाने के लिए निकल पड़ा।

●

गली-कूचे सुनसान थे। उनमें रक्त जमाने वाले ठिठुरते अन्धेरे के सिवा और कुछ नहीं था। दिन भर आवारा फिरने वाले कुत्ते भी जाने कहां गायब हो गये थे। नालियों में पानी जम गया था और बूंद-बूंद टपकाते कमेटी के नल की टोंटी से हिमलंब लटक रहा था। मैं खुश हुआ कि बाबा का मृत शरीर देखकर भी मेरी आंखों से आंसू नहीं बहे थे। यदि बहे होते तो मेरी आंखों से, दृष्टि को धुंधला करते हुए दो हिमलंब लटक रहे होते। हां, इस समय मेरी दृष्टि साफ और पैनी थी। शायद इसलिए कि ये अंधेरी गलियां टिमटिमाते दीये से मुलमुलाती कोठरी से अधिक रोशन और कम भयावह थीं। मेरी आंखें अंधेरे की परतों और उनके पीछे छिपे दरवाज़ों और खिड़कियों के बंद पटों को भेदकर गर्म-गर्म रज़ाइयों में दुबके स्त्री-पुरुषों को साफ-साफ देख रही थीं। नर्म-गर्म रज़ाई का सुख बहुत बड़ा सुख होता है और मैं इस समय इस सुख से वंचित था। मुझे संदेश पहुंचाने का काम सौंपा गया था। नहीं, यह कहना शायद ठीक नहीं है। मैंने यह काम अपनी मर्ज़ी से अपने ज़िम्मे लिया था। मैं खुद ही उस मनहूस कोठरी से बाहर निकलने के लिए कोई बहाना चाहता था।

उन लोगों का घर मेरा देखा पहचाना था और वह इसी गली के दूसरे छोर पर था। पर कुछ कदम चलते ही मेरे सामने एक समस्या आ खड़ी हुई। जिसे मैं सीधी गली समझ बैठा था वह कुछ कदम बाद ही दो अलग-अलग शाखों में बंट गयी थी। मैं क्या करूं? कौन सी गली अपनाऊं? थोड़ी देर बाद मैंने वह निर्णय ले लिया जो इस स्थिति में एकमात्र निर्णय हो सकता था। मैंने फैसला किया कि पहले दाहिनी गली में चलूंगा। यदि इस तरह उनके घर तक पहुंचा तो ठीक; नहीं तो वापस आकर बायीं गली को अपना लूंगा। इसमें जरूर कुछ अधिक समय लगने की सम्भावना थी। किन्तु रात भी अभी बहुत बाकी थी।

कालबेल बजते ही गृहस्वामि ने दरवाज़ा खोला। बाहर मुझे खड़ा **देखकर**

वह बहुत खुश हुआ और उल्टे पांव वापस जाकर उसने गृहस्वामिनी को आवाज़ दी—'देखो तो कौन आया है ?'

अब पति-पत्नी दोनों एक साथ दरवाज़े पर आ गये। उनका नौजवान लड़का भी आकर उनके पीछे खड़ा हो गया। तीनों मुझे देखकर प्रसन्न थे और उनकी यह प्रसन्नता कानों तक फैले होठों और उनके बीच झलकती दन्त पंक्तियों से छलकती थी। उचित तो यह था कि मैं भी मुस्कराऊं। पर मैं मुख पर गम्भीरता और तनाव ओढ़े ही रहा।

'आओ !' गृहस्वामि ने कहा और मैं उसके पीछे-पीछे कमरे के भीतर चला आया। कमरा ट्यूब लाइटों से रोशन और हीटरों से गर्म था। इतना गर्म कि उन तीनों ने हलके-फुलके सूती कपड़े ही पहन रखे थे। मैं सोफे पर बैठने वाला ही था कि गृहस्वामि ने मेरा हाथ पकड़कर मुझे रोक लिया।

'यहां आओ।' उसने कहा और मुझे दीवार पर लटकते बाबा के एक बड़े चित्र के पास ले गया। नीचे एक चौकी थी जिस पर धूप-दीप जल रहे थे और ढेर सारे फूल बिखरे पड़े थे।

मैं बाबा की भव्य आकृति को मुग्ध होकर देखता रहा। तभी गृहस्वामि ने मुझे टोका—'इस घर में जो भी प्रविष्ट होता है वह सबसे पहले बाबा के आगे सिर नवाता है। यह यहां का नियम है।'

मैंने भी नियम का पालन किया और फिर सोफे पर बैठ गया। गृस्वामिनी मेरे लिये चाय ले आई और अनुरोध करने लगी कि मैं इसे बाबा का प्रसाद मानकर स्वीकार करूं।

'मैं जो कुछ भी हूँ और जो कुछ भी मेरा है— मेरी पत्नी, मेरा लड़का, मेरा यह घर— सब बाबा की ही देन है।' गृहस्वामि ने पत्नी के हाथ से प्याली लेकर मेरे हाथ में थमा दी। मन न होने पर भी मैं चुपचाप चाय की चुस्कियां लेने लगा।

'बाबा हैं, इसलिये हम भी हैं।' गृहस्वामिनी ने कहा और लड़के की ओर देखा। लड़का उठा और बाबा के सामने सिर झुकाकर अपने कमरे में चला गया .. और चाय की चुस्कियां लेता मैं परेशान था कि कैसे इन लोगों को बाबा की मृत्यु का संदेश दूं ? कैसे एक सुखी गृहस्थी का सुख-चैन छीन लूं ? मरने वाला तो मर गया। अब उसकी मौत का समाचार सुनाकर जीवित लोगों को मारना क्या उचित रहेगा ?—
... पाया और चाय की खाली प्याली नीचे रखकर उठ खड़ा हुआ।

'चले ?' गृहस्वामि ने पूछा।

'हां।'

'जाने से पहले बाबा को प्रणाम नहीं करोगे ?' उसने मंद-मंद मुस्कराते हुए पूछा।

मुझे अपनी गलती का एहसास हो गया। बाबा के चित्र के निकट जाकर मैंने श्रद्धा से सिर नवाया, और तब सहसा मेरे मन में एक विचार उठा। मैंने गृहस्वामि से पूछा—'आपके पास सूई धागा होगा ?'

उसने कुछ नहीं कहा। बस वैसे ही मंद-मंद मुस्कराता रहा। 'हां' ! गृहस्वामिनी कहीं से मेरे लिए सूई धागा ले आई। मैं चौकी पर बिखरे फूलों को एक माला में पिरोने लगा। वह चुनचुन कर मेरे सामने ऐसे फूल रखने लगी जिनमें अभी भी ताज़गी शेष थी। उसका पति कुतूहल से हम दोनों की ओर देख रहा था। कुतूहल तो सिर्फ उसकी आंखों में था। अन्यथा तो उसके मुस्कराते होंठ पूर्ववत मेरी बेवकूफी का मज़ाक उड़ा रहे थे, और जब माला बनकर तैयार हो गई तो उसने बड़ी विनम्रता से अपनी गर्दन आगे की।

मैंने माला उसके गले में न डालकर, बाबा के चित्र को पहना दी। उसकी मुस्कराहट सहसा लुप्त हो गई और उसने कड़ककर पूछा – 'यह क्या कर रहे हो ?'

'माल्यार्पण कर रहा हूँ।' मैंने संयत स्वर में कहा।

'यह अपशकुन है।' उसने चित्र से माला खींच ली—'माला मरे हुए आदमी के चित्र को पहनाई जाती है।'

'और बाबा ?' मैंने पूछा।

'बाबा जीवित हैं।' उसने कहा।

'बाबा अमर हैं।' मैंने 'अमर' शब्द पर इस विश्वास के साथ ज़ोर देते हुए कहा कि मेरी तरह वह भी भली भांति जानता होगा कि जो सही सलामत हैं उन्हें कभी अमर नहीं कहा जाता।

'बात एक ही है।' उसका क्रोध शांत हो गया था और चेहरे पर मुस्कराहट फिर प्रकट हो गई थी। इस मुस्कराहट से परास्त होकर मैंने बहस जारी रखने का विचार छोड़ दिया और शिथिल कदमों से दरवाज़े की ओर बढ़ा। वह मुझे दरवाज़े तक छोड़ने आया और मुझसे हाथ मिलाते हुए उसने कहा—'बीच-बीच में आते रहना। इससे परस्पर प्रेम बना रहेगा।'

●

'आ गये ?' मुझे देखते ही वह खड़ी हो गयी।

मैं उसके ठीक सामने लाश की दूसरी ओर खड़ा हो गया।

'वे लोग कब तक आयेंगे ?' उसने पूछा।

मैंने कुछ नहीं कहा। दरअसल कोठरी में घुसते ही मेरा दम घुटने लगा था और मैं सोच रहा था कि क्यों न हाथ थामकर उसे अपने कमरे में ले आऊं और इस प्रकार उसे और अपने को इस दमघोंटू वातावरण और मारक शीत से मुक्त करूं और उस दिन की प्रतीक्षा करूं जब लाश की सड़न और बदबू स्वयं सारी दुनिया को बाबा की मृत्यु का संदेश देगी। परन्तु मेरी यह सोच भी बाबा के सिरहाने रखे दीये की लौ की तरह अस्थिर थी। इसी दीये के धुंधले प्रकाश में मैं उसे और वह मुझे चुपचाप देख रही थी और हमारे बीच में निश्चेष्ट पड़ी लाश थी जिसकी आंखें मुंदी और मुंह खुला था।

—काठलेश्वर, जैंदार मोहल्ला,
श्रीनगर।



दो कविताएँ

कुर्सी पर विराजमान एक अदद कोलॉज

—पृथ्वीनाथ मधुप

बातों ही बातों में
जान गई आंख
कबन्ध पर
उग आई है
एक अदद खोपड़ी
स्थूलकाय किसी
वैसाखनन्दन की !

मेज़ की—
चौड़ी-चिकनी चमचमाती सतह पर
हाथ नहीं :
पंजे
नरभक्षी व्याघ्र के
जिनके नखों पर
अपनी उपस्थिति
रेखांकित करते
बासी-टटके
खून के धब्बे !!

पादपीठ पे

दो अदद पैर
मोज़ों से लिपटे
चमचमाते जूतों में घुसे :
नहीं,
थाली में—
दो अदद बैंगन—
ताज़े !!!

मलता हूँ आंखें
बार-बार
पर
हर बार
कोलॉज वही
नज़रों के सामने।

●

गाड़ी

एक खुर में चाबुक
दूसरे में लगाम
गुदगुदी सीट पर बहुत आराम
चूता पसीना
चाबुक की मार
हो रहा पीठ पर रक्त की धार
क्या करे आदमी
खींचता ही जाता
बैल बड़ी मस्ती में सीटी बजाता !!!

पी-5/10, तवी कॉम्प्लेक्स, जम्मू।



लेख

कश्मीरी लोकगीतों में श्रृंगार

— सत्यभामा राजदान

श्रृंगार, साहित्य का प्रधान रस है जिसका आविर्भाव स्त्री-पुरुष के सम्भोग करने की कामना से होता है। श्रृंगार का शाब्दिक अर्थ है 'रति, मैथुन।' श्रृंगार रस के अन्तर्गत प्रायः वे गीत आते हैं जिनका सम्बन्ध आनन्द, उल्लास आदि से होता है। इस प्रकार के गीतों में नायक-नायिका के परस्पर मिलने पर होने वाले सुख का निदर्शन रहता है। मानव हृदय में रति इत्यादि कुछ भाव अविच्छिन्न रूप से रहते हैं किन्तु वासना रूप (संस्कार दशा में) सूक्ष्म रूपेण विराजमान रहते हैं। मानव हृदय के ये ही भाव विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से रूपान्तरित होकर रस रूप में प्रकट होते हैं।

श्रृंगार रस के अन्तर्गत आने वाले गीतों को प्रणय गीत भी कहा जाता है तथा प्रणय गीत के लिये कश्मीरी भाषा में 'लोलग्यवुन' शब्द का प्रयोग होता है। 'लोल' का अर्थ है 'प्रणय' तथा 'ग्यवुन' का अर्थ है 'गीत'। प्रकृति ने कश्मीर के लोक जीवन को केवल स्फूर्ति ही नहीं दी है अपितु उन्हें सौन्दर्यानुभूति से सम्पृक्त भी किया है। अतः जहां एक ओर वसन्त ऋतु के गीतों में जिन्हें कश्मीरी में 'सोंत वनवुन' कहते हैं, प्रकृति चित्रण की अद्वितीय छटाएं अंकित हुई हैं वहां दूसरी ओर प्रणय गीतों में श्रृंगार के विविध स्वरों की उत्कृष्ट एवं मर्मस्पर्शी व्यन्जना भी हुई है। श्रृंगार के दो पक्ष हैं संयोग तथा वियोग। किन्तु ये दोनों पक्ष ऐसे हैं जिनको एक दूसरे से अलग करना बहुत ही कठिन है। सर्वप्रथम संयोग श्रृंगार के अन्तर्गत आने वाले कश्मीरी लोकगीतों को लेते हैं।

संयोग का शाब्दिक अर्थ है मेल तथा संयोग श्रृंगार का अर्थ हुआ 'स्त्री-पुरुष

का सहवास।' प्राकृतिक सौन्दर्य का अद्भुत भूखण्ड, कश्मीर, गीतों की दृष्टि से हमेशा ही प्रणय का संगमस्थल रहा है। यही कारण है कि यहां के लोक गीतों में भाव एवं विचार-लालित्य के अतिरिक्त प्राकृतिक सौन्दर्य की अद्वितीय छटाएं भी देखने को मिलती हैं, इसका एक प्रमाण कश्मीरी लोकगीत की निम्नलिखित पंक्तियां हैं जिनमें देवी-देवताओं से सम्बद्ध कुछ पष्पों के प्रतीक द्वारा संयोग शृंगार की मार्मिक अभिव्यञ्जना हुई है। यथा :—

पम्पोशा फोलमुत, सुछु रागन्यायि वोलमुत,
अथ हय मुशकनि अम्बरय, सूर कोरनमो दिलबरो।
जाफुर पोशा फोलमुत, सुछु ज़ालायि वोलमुत,
अथ हय मुशकनि अम्बरय, सूर कोरनमो दिलबरो।
गुलाब पोशा छु फोलमुत, सुछु भगवती वोलमुत,
अथ छि मुशकनि अम्बरय, सूर कोरनमो दिलबरो॥

अर्थात् अगणित कमल, गेंदा एवं गुलाब के पुष्प खिले हैं जो क्रमशः रागन्या ज्वाला जी तथा भगवती से लिपटकर उनके वक्ष का शृङ्गार बने हैं। यहां इस बा का उल्लेख करना समीचीन होगा कि कश्मीरी लोकगीतों में जहां कहीं भी संयो शृंगार का उल्लेख आया है वहां प्रणय का आदर्श वर्णन हुआ है।

बसन्त ऋतु के प्रारम्भ होते ही कोई नायक परदेस से लौटता है और विरहा से सन्तप्त नायिका के विरह के क्षण समाप्त होते हैं। चूंकि उसका पति दूर आया है और काफी थका हुआ है, अतः नायिका उसे यात्री कहती है। वह ना को उस श्रान्त भौंरे के समान मानती है जो उस 'यम्बुरज़ल'[1] की तलाश में है स्वयं उस भौंरे की प्रतीक्षा में थी। अब दोनों मिलकर संयोग के मधुर क्षणों आनन्द लेते हैं। गीत इस प्रकार है :—

दूरे आखो यम्बरज़लिछांडान,
थकिमति मुसाफिर बेह यतेथ।
थकिमति बोम्बरो बेह यतेथ,
यम्बरज़ल ति आसयो प्रारान।

---

1. यम्बुरज़ल एक पुष्प है जो बसन्त ऋतु के आगमन पर खिलता है। इस विशेष को कश्मीरी लोक साहित्य में स्त्री सौन्दर्य के प्रतीक के रूप में जाता है।

थकिमति मुसाफिर बेह यतेथ,
थकिमति बोम्बरो बेह यतेथ ॥

एक और गीत इस प्रकार है। प्रियतम आ रहा है। हर्षोल्लास के गीत चारों दिशाओं में गूंजने लगे हैं। घर-कमरे विभिन्न प्रकार के पुष्पों एवं बिछौनों से सुसज्जित हैं। उसके स्वागत के लिये मोती छितराये जाते हैं और यहां तक कि नायिका अपने नयनों तक को अपने प्रियतम की राहों में बिछाने को तैयार है। गीत इस प्रकार है :—

यारसुन्द पयिमों च अनी आवय,
गोशन पोश वथ रावयो।
वनवुन हूरन अथि वननावय,
गोशन पोश वथरावयो।
होल छुम गोमुत लोल वथरावय,
सेतार - साज वायनावयो।
लोल छुम लालो लोल वथरावय,
गोशन पोश वथरावयो।
क्यमखाब, जरबाफ फरशकनित्रावय,
वतन मोख्त छकरावयो।

प्रस्तुत पंक्तियों में संयोग सुख का रस-सिक्त वर्णन हुआ है। प्रियतम के आने पर उसके पथ पर आंखों को बिछाना निस्सन्देह संयोग श्रृंगार की उदात्तता का उदाहरण है।

एक और गीत है जिसमें नायक तथा नायिका के विरह क्षण समाप्त होने पर संयोग का अवसर आया है। नायक, नायिका के वस्त्र खोलकर सम्भोग में लीन होता है। यथा :—

यारसुन्द रोशुन सार छुम थावान,
यारस लरि पान सावन छस।
कामदी वलाल छुम जामअमुचरावान,
पोशन मालअ करना वान छस।
लालअ सन्ज़ि कथि छस वारअकन थावान,
दौन वुठन सत्य मिलनावान छस।

नायिका कहती है कि मेरे विरह के क्षण समाप्त हो गये हैं। आज मैं
प्रियतम की बगल में सोई हूं। मेरा प्रियतम मेरे वस्त्रों को खोल रहा है, मैं
बातों को ध्यान से सुन रही हूं तथा अपने अधरोष्ठों को अपने प्रियतम के अध
से मिला रही हूं। सम्भोग शृंगार का कितना उत्कृष्ट उदाहरण है यह।

मानव जीवन के सभी क्षण समान नहीं होते। जहां उपर्युक्त गीतों में
शृंगार की झलक देखने को मिलती है वहां दूसरी ओर कश्मीरी लोकगीतों में विप्र
शृंगार के स्वर भी कहीं-कहीं सुनने को मिलते हैं। ऐसा स्वाभाविक भी है
संयोग के बिना तो वियोग हो ही नहीं सकता और बिना वियोग के संयोग का
अर्थ अथवा आकर्षण नहीं रहता है। वियोग शृंगार के गीतों में भी प्रकृति
साहचर्य पाया जाता है। इन गीतों में भी प्रकृति के कण-कण को उपमाओं
प्रतीकों के रूप में ग्रहण किया गया है। विरहाग्नि से सन्तप्त स्त्री-पुरुषों के भावोच्छ
तथा तीव्र स्पन्दन इन गीतों में देखने को मिलते हैं। यथा विरहाग्नि से स
नायिका, जो अपने नायक से मिलने के लिये उदास है, अपने प्रियतम को ढूंढते
थक गई है लेकिन उसका प्रियतम इतना निर्दयी है कि अपनी प्रेयसी की दयनीय
पर उसे तरस तक नहीं आता। गीत की पंक्तियां इस प्रकार हैं :—

मे जालान अशकुनुय नार,
तमिसनय आर वेसिये।
बो लोलन करस बेमार,
तमिसनय आर वेसिये।
मे मतलब ओस दीदार,
तमिसनय आर वेसिये।

प्रस्तुत पंक्तियों में नायिका अपनी सहेली से कहती है कि विरह की अग्नि ने
हृदय को भस्म कर दिया, प्रणय के कारण मैं बीमार हो गई, उसके दर्शन को मैं
रही हूं लेकिन मेरे उस प्रियतम को मुझ पर ज़रा भी दया नहीं आती।

वियोग शृंगार पर आधारित एक अन्य गीत इस प्रकार है : विरहाग्
सन्तप्त कोई नायिका अपने भावों को प्रकट करती हुई कहती है कि प्रणय को
परवाना ही जान सकता है जो प्रेम की अमर वेदी पर बलि चढ़ने से ज़रा भी
डरता। विरह की पीड़ा ऐसी पीड़ा है जो समझायी नहीं जा सकती। विरह
अग्नि में जलता हुआ विरही भोजन के बदले अपने ही शरीर का मांस खाता

प्यास लगे तो अपने ही शरीर का रक्त पीता है और जीवित ही मृत हो जाता है। गीत इस प्रकार है :—

अश्कनारन ज़अजनम तन त लोलो,
बालयारस खबरा वन त लोलो ।
अश्कुने माने कुस जाने,
या मंसूर नत पोम्पुर जाने ।
नाज़ आशक पननुय माज़ ख्यवान,
त्रेशिकनि अशिकुय खून ध्यवान ।
ज़िन्दअ पानस छि गिन्दन त लोलो,
बालयारस खबरा वन त लोलो ।

अर्थात् ऐ सखी ! विरह की अग्नि से मैं जल गई। विरह का अर्थ मंसूर एवं परवाने के बगैर कौन जान सकता है। विरह की अग्नि से जलता हुआ मानव अपना मांस खाता है और पानी के बदले अपना रक्त पीता है। अतः हे सखी। कृपया तुम जाकर मेरे प्रियतम को मेरा संदेश पहुंचाना। प्रस्तुत पंक्तियों में विरहावस्था की चर्मोत्कर्ष अभिव्यञ्जना हुई है। इन पक्तियों में नायिका को पूरा विश्वास है कि जब उसका प्रियतम उसकी दशा से अवगत होगा तो वह अवश्य ही आकर अपनी प्रेयसी से मिलकर उसके सभी दुःख दूर कर उसके निराश जीवन में आशा की किरण दीप्त करेगा। यही कारण है कि उपरिलिखित पंक्तियों में नायिका अपनी सखी से उसके प्रियतम तक संदेश पहुँचाने के लिये प्रार्थना करती है। वह अपनी सखी से कहती है कि मेरे उस प्रियतम से कहना कि तेरी प्रेयसी को ज़हरीले सांप ने घेर रखा है। "नाल वोलनम शाहमारन त लो-लो, बालयारस खबराह वन त लो-लो।" यहां नायिका ने विरह की अग्नि की तुलना ज़हरीले सांप से की है जिसने उसे घेर रखा है।

विरह की अवस्था में प्रायः प्रकृति विषयगत रूप में उद्दीपन का कार्य करती है। प्रकृति में सभी प्रकार के भावों को उद्दीप्त करने की सामर्थ्य होती है। प्रकृति की रम्य छटाएँ संयोग अवस्था की सुखद अनूभूति को उत्तेजित करती हैं जबकि वियोग में वही द्रश्य संयोगावस्था के दौरान अनुभव किये गये सुखों की याद दिला कर उसकी विरह वेदना को और भी तीव्र कर देते हैं । इसे निम्नलिखित उदाहरण से इस भान्ति समझा जा सकता है "विरह से सन्तप्त नायिका को बसन्त के आगमन से उद्यानों में

अनार वृक्षों के लाल पत्तों से आग टपकती प्रतीत होती है ; बागों में खिले अनार पुष्पों के समान वह भी विकास की चरमस्थिति तक पहुँची है। अपने प्रियतम के विरह के कारण वह जल गई है। गीत इस प्रकार है :—

दूरे र चोन ना जरो,
सूर करुथमो दिलबरो ।
दूरे र चानि हा मरो,
सूर करुथमो दिलबरो ।
दअन बागा छु फोलमुत,
बाचावरे छु वोलमुत ।
दअन छा किनअ अंबरो ।
सूर कोरथमो दिलबरो ।
कोंग डूरा छु फोलेमुत ,
ठेकदारव छु वोलमुत ।
कोंग छा किनअ अंबरो ,
सूर कोरथमो दिलबरो ।

अर्थात् हे प्रियतम तेरा दूर रहना मुझसे सहन नहीं होता क्योंकि बसन्त के आगमन के साथ बागों में अनार के वृक्षों पर अनार पक रहे हैं तथा केसर पु विकसित हुये हैं जिनसे व्यापारी लोगों ने अपना तांता बांध रखा है । ऐसे सुहा मौसम में मैं तेरे दूर रहने पर मर जाऊँगी, तेरे विरह से मैं भस्म होने लगी हूं । अब मुझसे और अधिक सहा नहीं जाता ।"

एक और उदाहरण देखिये जिसमें विरह से सन्तप्त नायिका प्रकृति के क कण में निजी पीड़ा का अनुभव करती है। यहां तक कि चाँद की चाँदनी भी बादलों में छिपी प्रतीत होती है अपनी तुलना धान तथा अलसी के उन खेतों के करती है जो पानी के अभाव में सूख गये हैं यथा :—

ज़ून खअच ओबरस छाये लो - लो,
दूरन मारान ग्राये लो - लो ।
अथ हा दांडारस दान्या वोवमय,
पानि रोस दानिगव जाये लो-लो ॥ ज़ून ॥

एक अन्य गीत इस प्रकार है, "विरह से सन्तप्त नायिका ने प्रणय रूपी उद्यान

अपने आंसुओं से सींचा। सारी रात उसका प्रियतम ओस की भांति उससे लिपटा रहा किन्तु यह क्या, उषा की पहली किरण के साथ ही उसका प्रियतम अपनी प्रेयसी को छोड़कर चला गया। इसके बाद वह अपनी सखियों से प्रार्थना करती है कि वह उसके प्रियतम को ढूँढकर लायें और फूल सी कोमल उस नायिका के जीवन को नष्ट होने से बचायें।" यथा :—

रातस ओसुम लवअ ज़न लअरिथ,
सुबहस कथा त्रविथ गोम ॥
बबरेचमन अशि सगनविथ,
अशिमोत कवय पशनविथ गोम।
साल करितोस ही गछि छ्अर्जवथ,
रातस ओसुम लव ज़न लोरिथ।

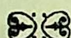
किसी नायिका के यौवन रूपी वृक्ष में प्रणय के फूल खिले हैं और उसे संयोग का अवसर प्राप्त हुआ है। किन्तु इससे पहले उस नायिका की क्या दशा थी, उसको वह निम्नलिखित पंक्तियों द्वारा अभिव्यक्त करती है। गीत की इन पंक्तियों में वह शीरीं-फरहाद तथा लैला-मजनूं जैसे रोमानी उपाख्यानों द्वारा प्रेम के स्वरूप पर प्रकाश डालती है। इतना ही नहीं, इन रोमानी उपाख्यानों के अतिरिक्त वह "सूर्य-चन्द्रमा" तथा "भौरे और यम्बरज़ल पुष्प" जैसे स्थानीय पुराख्यानों द्वारा भी अपने प्रेम पर प्रकाश डालती है। यथा :—

पोश फलिमो हो यावननि थरि लो - लो,
अश्क दादि क्याह बनेह फरहादस,
शीरीं पतअ गव बांबुरि लो - लो,
अश्क दादि क्याह बनेह मजनूनस,
ललवेदि पतअ गव बांबुरि लो - लो,
अश्क दादि क्याह बनेह आखताबस,
जूनि पतअ गव बांबुरि लो - लो,
अश्क दादि क्याह बनेह बोम्बरस,
यम्बरज़लि पतअ गव बांबुरि लो - लो।

यों तो ऐसे अगणित कश्मीरी लोकगीत हैं जिनको कि श्रृंगार रस की कोटि में रखा जा सकता है किन्तु विस्तार के भय से प्रस्तुत लेख के अन्तर्गत मैंने उपरिलिखित

गीतों का ही संकलन किया है। ये गीत शुद्ध गीति काव्य की कोटि में रखे जा सकते हैं। वर्ण्य विषय, शैली तथा भावपक्ष की दृष्टि से भी गीति काव्य परम्परा से इन गीतों का अटूट सम्बन्ध है। गीति काव्य की ही भांति इन गीतों में भी भाव एवं विचार लालित्य के अतिरिक्त प्राकृतिक सौन्दर्य की अपूर्व छटाएं भी देखने को मिलती हैं। इन गीतों में कहीं भी सांस्कृतिक अथवा नैतिक मूल्यों का अतिक्रमण नहीं हुआ है। शृंगार के गीतों में, चाहे संयोग शृंगार हो अथवा विप्रलम्भ दोनों में प्रणय का आदर्श वर्णन हुआ है।

—चन्दापोरा, हब्बाकदल,
श्रीनगर।



मुझे कहो

—महाराज कृष्ण संतोषी

मुझे कहो,
मैं क्या करूँ
व्यवस्था की गंदी नाक पोंछने
कितनी बार
अपनी कविता को
रूमाल की तरह
इस्तेमाल करूँ।

मुझे कहो,
मैं क्या करूँ
मेरे सामने
एक तेज़ गटर बह रहा है
कितनी बार
अपनी प्यास स्थगित करूँ !

—टेलीकॉम एकाऊंट्स,
जी० एम० टी०, श्रीनगर।



लेख

विद्रोह, आधुनिकता और सामाजिक परिवर्तन

—डॉ० नरेन्द्र मोहन

मनुष्य जब दासता की मनोवृत्ति से उबरने के लिए, पाखंड को उघाड़ने के लिए, अन्यायपूर्ण और आततायी स्थिति के विरुद्ध लड़ने के लिए प्रयत्नशील होता है और समानता की मनोभूमि पर अपने अधिकारों के प्रति सजग रह कर संघर्षरत होता है, तभी विद्रोह की नींव पड़ती है। मुक्ति-कामना, पाखंड-खंडन, अन्याय-अत्याचार का विरोध, संघर्षशीलता और अधिकारों के प्रति सजगता विद्रोह को प्रेरित करने वाली, उसे एक पुष्ट आधार देने वाली ऐसी प्रवृत्तियां हैं जिनका सामना हर लेखक-बौद्धिक को किसी न किसी रूप में करना ही पड़ता है।

लेखक और बौद्धिक के लिए विद्रोह महज़ एक शब्द या आवेग नहीं है। वह उसकी रचनात्मक मानसिकता का हिस्सा बनकर उसे लगातार और बार-बार घेरता है। इसके साथ उसका संपूर्ण सर्जक व्यक्तित्व संग्रथित रहता है। उसके लिए विद्रोह, संघर्ष और परिवर्तन एक-दूसरे से अलग-थलग पड़े हुए बेजान शब्द नहीं हैं, बल्कि वे जीते-जागते, एक-दूसरे से क्रिया-प्रतिक्रिया करते ऐसे शब्द हैं जो एक सिलसिले में बंधे हुए हैं। दर्शनवेत्ता, समाजशास्त्री और राजनेता भी इन शब्दों का इस्तेमाल करता है, इनकी मीमांसा करता है पर वह इन्हें एक दूसरे से अलग करके, इन शब्दों के आन्तरिक सिलसिले को तोड़ देता है। वह उन्हें एक क्रम में या एक साथ जोड़कर नहीं देखता, टुकड़ों में देखता है जबकि लेखक इन शब्दों के अन्तर्सम्बन्धों और अन्तरात्मा में प्रवेश करता है, उनके भीतरी आशयों और मन्तव्यों को, रचनात्मक मानसिकता-संवेदना और वैचारिकता का संबल पाकर, अधिक प्रामाणिकता से खोलता है।

लेखक का व्यवस्था के विरुद्ध होना ठीक वैसा नहीं है जैसा किसी राजनीतिक दल के नेता या कार्यकर्ता का व्यवस्था विरोधी रुख। लेखक का रुख उसकी रचनात्मक मानसिकता में से छनकर आता है और उसकी मूल्यगत आस्था को सूचित करता है। इसीलिए तंत्र से उसकी टकराहट की अभिव्यक्ति में वीर मुद्राओं के बजाय यातना का एहसास रहता है। यह यातना विद्रोह को दर्शन के क्षेत्र की अपेक्षा साहित्य के क्षेत्र में ले आती है। साहित्य के क्षेत्र में दार्शनिक धारणाओं के पुंज को लपटों की तरह जलते हुए देखा जा सकता है। यहां धारणाएँ एहसासों, भावनाओं, विचारों और अमलों में ढलती हुई देखी जा सकती हैं। दरअसल जब तक ये शब्द लेखकीय व्यक्तित्व के भीतर से नहीं फूटते तब तक उनसे किसी बड़ी भूमिका की — तंत्र की भयावह शक्ति से टकराने की, संघर्ष या परिवर्तन की उम्मीद नहीं की जा सकती। लेखक के सामने, अन्ततः, उसका अनुभव और विचार ही विश्वसनीय कसौटी है। कला और साहित्य के संदर्भों में विद्रोह के इन्हीं रूपों और व्यापारों का सर्वाधिक महत्व है।

यह नहीं कि साहित्य-क्षेत्र में विद्रोह, संघर्ष और परिवर्तन शब्दों का दुरुपयोग नहीं हुआ है। हुआ है और खूब हुआ है। विद्रोह और अनवरत संघर्षशीलता की दुहाई देने वाले ऐसे अनेक बनावटी विद्रोही यहां भी मिल जायेंगे जो छद्म क्रान्तिकारिता के बलबूते हवा में लठ भांजते रहते हैं। इन्हें न सामाजिक व्यवहारों का इल्म होता है न मानवीय व्यवहारों का।

किसी स्थिति का केवल नकार, कोरा निषेध या अस्वीकार विद्रोह और संघर्ष नहीं है। पर यह भी सही है कि इनके बिना विद्रोह की शक्ल नहीं बन सकती विद्रोह इन से उत्तेजित होता है, बल प्राप्त करता है और व्यापक स्तरों से जुड़कर सकर्मक गति-विधियों में बदल जाता है। यह निषेध के आगे की स्थिति है—प्राथमिक निषेध भाव का अतिक्रमण करने वाली और उसे क्रियात्मक हलचल और मुनासिब कार्यवाही में बदल देने वाली। यह दृष्टि अपनी बनावट और मिज़ाज में मूल्यपरक है। एक क्रूर और घिनौनी परिस्थिति में यह दृष्टि एक ओर मानवीय सरोकार को खत्म होने से बचाती है, दूसरी ओर मानवीय अस्तित्व को अर्थ प्रदान करती हुई सामाजिक न्याय, समानता और स्वातंत्र्य के पक्ष को मजबूत बनाती है।

विद्रोह और संघर्ष का संबंध सीधे-सीधे यथार्थ स्थिति से है। विद्रोह एक मूल्य के रूप में और एक कारगर हथियार के रूप में तभी इस्तेमाल हो सकता है जब उसे ज़िन्दगी की रोज़मर्रा की यथार्थ स्थितियों के बीच में से उभारा जाए। हम विद्रोह को यथार्थ तक सीमित करने की बात नहीं कर रहे बल्कि यथार्थ की आलोचना और उसके कल्पनात्मक

विधान में से विद्रोह को उभारने की सिफारिश कर रहे हैं। यथार्थ स्थितियों से जूझते औ
टकराते हुए जो विद्रोही मानसिकता निर्मित होती है उसी के बल पर लेखक-बौद्धि
पूर्व-निश्चित और तयशुदा मूल्य आधारों की रूढ़ि को तोड़ता है और नये मूल्यों
खोज करता है। ज़िन्दगी के धड़कते-दहकते हुए संदर्भों में से ही लेखक और बौद्धि
जीवन से बड़े मूल्यों की—बलिदान और शहादत की—कल्पना करता है। य
कल्पना उसे दर्शनवेत्ता और समाजशास्त्री से अलग और विशिष्ट पहचान देती है।

विद्रोहात्मक मूल्य किसी संस्था, सत्ता-प्रतिष्ठान, धार्मिक-मठ या दर्शन
पोथी से प्राप्त नहीं किये जा सकते। हर सूरत में उन्हें जीवन स्थितियों में से औ
तत्पश्चात् उनका अतिक्रमण करते हुए, अर्जित किया जा सकता है। इसीलिए विद्रो
किसी मतवाद का अनुवर्ती नहीं है। अगर इसे किसी मतवाद के प्रचार के निमि
एक साधन के लिए इस्तेमाल किया जाता है तो ऐसा विद्रोह न समाज के कि
काम का है, न साहित्य के। मतवादी कठमुल्लापन और पोंगा-पंथी रवैये विद्रोह
प्रकृति के विरुद्ध हैं और उसे विफल बनाते हैं।



आधुनिक विद्रोहदृष्टि मध्ययुगीन विद्रोहभाव से भिन्न है। मध्ययुगी
विद्रोहभाव धर्म और दर्शननिर्भर है। उसके केन्द्र में धार्मिक और दार्शनि
आस्थाएं हैं और अन्ततः उन्हीं से जुड़ी हुई मान्यताएं और मूल्य हैं जबकि
आस्थाओं, मान्यताओं और मूल्यों से आधुनिक विद्रोह का कोई विशेष संबंध नहीं जुड़ता
विद्रोह की आधुनिक अवधारणा के मूल में वैज्ञानिक चेतना, सामाजिक दर्शन औ
राजनीतिक दृष्टि है। मध्ययुगीन विद्रोह के प्रेरक आधारों—धर्म, दर्शन और अध्या
का इनसे कोई गहरा सरोकार नहीं है। आधुनिक विद्रोही लेखक किसी धार्मि
दार्शनिक सत्ता से, सामाजिक-राजनीतिक संस्था से प्रेरणा ग्रहण नहीं करता। उस
लिए कोई बना-बनाया, बंधा-बंधाया मूल्य-ढाँचा बेकार है।

आधुनिकता को एक व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना के रूप में प
कल्पित और विकसित करने में पाश्चात्य दार्शनिकों और विचारकों का बहुत बड़ा हा
रहा है। विकासवादी सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाले चार्ल्स डारविन (180
1882), इसे समाज के विकासवादी सिद्धांत के रूप में ढालने वाले ह
स्पैन्सर (1820-1903) तथा समाजवादी विकास की धारणा को वर्ग-सं
की नींव पर टिकाने वाले—इसे एक ओर प्रविधि के विकास से, दूसरी

वस्तु उत्पादन और सामाजिक वर्गों के संबंधों की आधारशिला प्रदान करने वाले कार्ल मार्क्स (1818-1883) — इन सभी दार्शनिकों-विचारकों ने आधुनिकता को एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार दिया और विद्रोह और क्रान्ति जैसी धारणाओं पर नये सिरे से विचार किया। आधुनिक चेतना और चिन्तन पद्धति का प्रारंभ उन्हीं से हुआ। मध्यकालीन बोध और चिन्तन से अलग एक नये ढंग के आधुनिक बोध और चिन्तन का विकास हुआ। आस्था और विश्वास के स्थान पर मानवीय विवेक और विचार को केंद्रीय महत्व प्राप्त हुआ। इससे सामाजिक संकल्पना की स्थिर और पिटी-पिटाई धारणा में बदलाव आया। विचारों की दुनिया में यह निश्चय ही एक नयी क्रान्ति की शुरुआत है।

आधुनिकता का सही स्वरूप विद्रोहात्मक है। आधुनिक युग और आधुनिकता का प्रारंभ मनुष्य द्वारा अपनी स्थिति के प्रति असंतोष और विद्रोह करने तथा समाज की गली-सड़ी मान्यताओं और व्यवस्थाओं को चुनौती देने या उन्हें अमान्य ठहराने के संकल्प के साथ जुड़ा हुआ है। आधुनिक युग में शक्ति और सत्ता के प्रतीकों में युगान्तरकारी परिवर्तन हुए हैं और नवीन सत्ताओं और व्यवस्था-तन्त्रों के विरुद्ध एक नयी जागरूकता, संघर्ष-चेतना और विद्रोही मानसिकता पनपी है, जो आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का ही हिस्सा है। आधुनिकता के दबाव से कुछ खास आचरणगत मनोदशाएं और रवैये (बेरोजगारी, आत्महत्या, अवारागर्दी, व्यर्थता-बोध, शारीरिक और मानसिक रुग्णताएं आदि) पैदा हुए हैं। उनसे निपटने के लिए कई तौर-तरीके अपनाये गये हैं। अस्वीकृति, आक्रोश, विद्रोह और संघर्ष इन्हीं में से उभर कर सामने आए हैं।

इतना तो स्पष्ट ही है कि अस्वीकार, निषेध, विद्रोह और आधुनिकता के प्रश्न हवा में खड़े हुए प्रश्न नहीं हैं। इनका सरोकार हमारी सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं और स्थितियों से है। लेखक-बुद्धिजीवी के लिए इन्हें समझना जरूरी है। क्या हमारी सामाजिक व्यवस्थाओं की धुरी दमन और अन्याय पर टिकी है? क्या हमारी सामन्तवादी-पूंजीवादी व्यवस्था में ऊंचे धनीवर्ग का निम्नवर्ग के प्रति रवैया दुष्टतापूर्ण और पखांडपूर्ण नहीं है? क्या यह वर्ग संपूर्ण आचार-संहिता और मूल्य-विधान को, धर्म और दर्शन को, चालाकी और धूर्तता से, अपने हक में इस्तेमाल नहीं कर रहा? ऐसी सामाजिक व्यवस्था (जहां उच्च और संपन्न वर्ग निम्नवर्गों को निरंतर भुलावे में रखने की तरकीबें निकालता रहता हो), जिसमें लेखक-बौद्धिक जीता-मरता हो, जिसमें उसकी संवेदनाएं और विचार निर्धारित होते हों, समझना किसी भी लेखक के लिए ज़रूरी हो जाता है। ऐसे विद्रोही कलाकारों-लेखकों के लिए यह और भी ज़रूरी

है कि वे सामाजिक ढांचे के बारे में टिप्पणियां करते समय आवश्यक सावधानी बरतें और अपने अतिरिक्त उत्साह में उन अन्तर्विरोधों को नज़रअन्दाज़ न करें जो उनके और सामाजिक ढांचे के बीच चुनौतियां बनकर उभरते रहते हैं। व्यवस्था को (वह सामाजिक हो या राजनीतिक, सामन्तवादी-पूंजीवादी हो या समाजवादी - साम्यवादी) काले और भौंडे रूप में चित्रित करने से कुछ न होगा। व्यक्ति और व्यवस्था के तनावों और अन्तर्विरोधों पर कलाकार, लेखक की कड़ी नज़र रहनी चाहिए। इसके लिए पहली बात तो यही है कि हम सामाजिक परिवर्तन के लिए भीतर से विचलित अनुभव करें। कोई साहित्यिक कृति जब पूरी निर्ममता और बेबाकी से व्यक्ति और समाज के तनावों को और सामाजिक विसंगतियों और अन्तर्विरोधों को उघाड़ कर पेश करती है तब हमें तीव्र एहसास होता है कि हम कितने बड़े पाखंड और झूठ को जी रहे हैं। अन्य बातों के अलावा यह अहसास हमें सर्वाधिक प्रेरित करता है, सामाजिक परिवर्तन के लिये, समाज को बेहतर बनाने के लिए। यही वह बात है जो इसे एकतरफा होने से बचा सकती है।

ऐसा क्यों है कि हम अपनी तकलीफों से जुड़े सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक मुद्दों की तफसील में नहीं जाते। उनकी जांच-परख करना तो दूर, उन्हें छूने-खरोंचने से भी डरते हैं। हम ऊबते हैं और आतंकित होते हैं और अपनी ऊब और आतंक को सम्वेदनात्मक समृद्धि के नाम पर खपाते रहते हैं। उससे आगे बढ़ना शायद हम नहीं जानते या जानना नहीं चाहते। क्यों हमारी अधिकतर रचनायें इस मुकाम पर पहुंच कर रुक जाती हैं और हमें कुछ नहीं सूझता? रचनाकार के नाते क्या हम किन्हीं बौद्धिक विभ्रमों और संवेदनात्मक भटकावों के शिकंजों में तो नहीं कसते जा रहे? अगर कोई रास्ता नजर नहीं आता (नज़र न आना हमारी दृष्टि का एक खास हद के बाद न देख सकना भी तो है) तो क्या रास्ता तलाश करने और अपनी दृष्टि को फैलाने से रोक लें?

सुधार से परिवर्तन, संघर्ष से परिवर्तन, क्रांति से परिवर्तन—हम किस उपाय से परिवर्तन लाने के इच्छुक हैं, इस पर बहुत कुछ निर्भर करता है। सुधारवादी तरीकों से परिवर्तन लाने का पूरा एक युग हम देख चुके हैं। सुधार का दौर ज्यादातर क्रांति का दौर रहा है। इस दौर में अन्याय कम नहीं हुआ, उसे अधिक प्रश्रय मिला है, संबंधों में पाखण्ड और दोगलापन बढ़ा है और यथास्थिति और पुख्ता हुई है। इस भ्रांति से निजात पानेके लिए और सामाजिक परिवर्तन की दिशाओं में आगे बढ़ने के लिए संघर्ष के एक लंबे दौर के लिए तैयारी और उसमें भागीदारी लाज़मी है। हमारे समाज

का ढांचा जिस तरह का है, उसे देखते हुए सुधारवादी दृष्टि से किये गये सुधार ढांचे में ही खप कर रह जाते हैं। ऐसी स्थिति में संघर्षों के लम्बे दौर को अपना कर ही कोई लेखक-बौद्धिक बुनियादी क्रांतिकारी रद्दोबदल की दिशा पा सकता है। हां, यह उसे देखना होगा कि जिस व्यवस्था या संस्था को वह अपना निशाना बना रहा है, जिसके प्रति अपना आक्रोश और विरोध प्रकट कर रहा है, उस व्यवस्था और संस्था को वह कितना जानता है। उसे इसकी बराबर टोह लेते रहना चाहिए और यह परखते रहना चाहिये कि संवेदन, विचार और मानसिकता के स्तरों पर वह व्यवस्था से जूझने का कितना प्रमाण संजो पा रहा है? इस जूझने के दौरान वह विसंगतियों को देखता हुआ निर्णय की हालत में पहुँच सकता है, पर निर्णय पुनः उसे विसंगतियों के भयंकर जाल में नहीं फंसा देगा, यह निर्द्वंद्व होकर नहीं कहा जा सकता।

हमारे मुल्क में राजनीति का जो चरित्र मौजूद है, उसमें कुछ भी साफ-साफ तय करने की, निर्णय लेने की या किसी मूल्य या किसी विचार/विचारधारा पर टिके रहने की मानसिक दृढ़ता का अभाव है। यहाँ हद दर्जे तक धुंधलाने की प्रवृत्ति है (लेखन और अन्य ज्ञान निकायों में भी यही प्रवृत्ति तेजी से फैल रही है) ताकि कोई चीज़ अपनी सही, अराजक और खतरनाक शकल अख्तियार न कर सके। यह चीज़ों को गड्डमड्ड करने की—पूंजीवाद, समाजवाद और साम्यवाद को एक सांस में गड़बड़ाने वाली प्रवृत्ति है जिससे कि यथास्थिति को बनाये रखने में मदद मिलती रहे और अवसरवाद पनपता रहे। ऐसे माहौल में दृष्टिकोण संबंधी कोई निश्चित रवैया अपनाना कठिन हो जाता है। हां, विद्रोह संघर्ष को संचालित करने वाली दो दृष्टियां इधर साफ दिख रही हैं—राजनीति में भी और साहित्य में भी। एक दृष्टि राजनीतिक अर्थमें उदारवादी-उग्रतावादी है, दूसरी दृष्टि अराजनीतिक अर्थ में उग्र-सुधारवादी। राजनीतिक अर्थ में उग्र सुधारवादी वे लोग हैं जो व्यवस्था को बनाए रख कर उसमें बदलाव के हामी हैं। दूसरी ओर अराजनीतिक क्षेत्र के ऐसे उग्रतावादी लोग हैं जो हर प्रकार की व्यवस्था के प्रति विद्रोह करने में विश्वास करते हैं।

इधर की रचनाओं में संघर्षशील नायकों की सशस्त्र कार्यवाहियों, हिंसक व्यवहारों और रचनाओं के अन्त में परिवर्तनकामी संकेतों का जो प्रतिफलन हो रहा है, उसकी पड़ताल करने और उसे आलोचना का विषय बनाने के हम पक्ष में हैं। हम इस बात से भी सहमत हैं कि क्रांतिकारिता के नाम पर छद्म न पनपे और लेखक अतिरिक्त उत्साह और ऊर्जा में ऐसे उपायों की पैरवी शुरू न कर दें जो हमारे एहसास से कोसों दूर

हों और जिनका हमारी परिस्थितियों से कोई ताल्लुक न बैठता हो, पर इन कार्यवाहियों, व्यवहारों और संकेतों के प्रतिफलन को देख कर वे बौद्धिक नाक-भौं सिकोड़ते हैं जो सामाजिक स्तरों पर इन कार्यवाहियों, व्यवहारों और संकेतों की जड़ों को पहचान नहीं पाते, जो एक चलताऊ नैतिकता के तहत परिवर्तनकामी शक्तियों की भूमिका को उस हद तक ही स्वीकार कर पाते हैं जिस हद तक उनकी स्वीकृत धारणाओं को ठेस न पहुँचे। ऐसे लेखकों-बौद्धिकों की परिवर्तन-वांछा सुधारवादी किस्म की ही होती है। ऐसे लोग अक्सर कहते हैं—पहले सुधार ले जायें, क्रांतिकारी परिवर्तन बाद में देखेंगे। सुविधा के लिये इन्हें सुधारवादी-उदारवादी बौद्धिक कह सकते हैं। ये नये लिबास में पुराने समन्वयवादी हैं। इधर की रचनाओं में— आमतौर पर कविताओं और कहानियों में, इस ढंग के सुधारवादियों, उदारतावादियों और समन्वयवादियों की अच्छी पोल खोली गयी है।

रचना में तिलमिला देने वाला गुण तभी पैदा होगा जब सामाजिक आधार पर और मानवीय आधार पर लेखककी निस्पृह दृष्टि टिकी होगी। किसी अन्यायपूर्ण सामाजिक राजनीतिक स्थिति और पाखंड को देखकर और महसूस कर अगर कोई लेखक आक्रोश में भर उठता है तो उसे ऐसे रूप में व्यक्त करता है कि पाठक तिलमिला उठे तो ऐसी रचना को सिरे से ही बेसिर-पैर की क्यों करार दिया जाये या उसे रोमानी विद्रोहात्मक प्रवृत्ति या मैलोड्रामैटिक कह कर क्यों कम करके आंका जाये।

साहित्य के सन्दर्भ में विद्रोह, संघर्ष और क्रांति का बोध फार्मूलों और सुनिश्चित धारणाओं के सहारे संभव नहीं है। उदाहरण के लिये सामाजिक परिवर्तनों की आकांक्षा के निमित्त शोषितवर्ग के जुझारू तेवर को दिखाना एक बात है पर सर्वत्र शोषक वर्ग पर उसे विजयी होते दिखाना नुस्खे के शिकार हो जाना है और छद्म को पनाह देना है। सामाजिक, राजनीतिक, परिवर्तनों और वर्गीय लड़ाई का इस ढंग का सरलीकरण एक खुशफहमी से ज्यादा और क्या हो सकता है? वास्तविकता यह है कि इस ढग की लड़ाई में, पराजय का मुंह भी देखना पड़ सकता है और जिन्हें नेस्तनाबूद करने के मसूबे बांधे थे, उनके चंगुल में फंसे रह कर यन्त्रणा झेलनी पड़ सकती है।

विद्रोह की साहित्यिक अभिव्यक्ति की समस्या ऊपरी तौर पर देखने में सरल लगती है। पर असल में यह है बहुत कठिन। इसके साथ साहित्यिक कर्म की बहुत-सी समस्यायें जुड़ी हुई हैं। विद्रोह अपनी लक्ष्यप्राप्ति की दृष्टि से भले ही एक चरम स्थिति हो, पर साहित्यिक अभिव्यक्ति और रचनात्मक प्रतिफलन की दृष्टि से चरम या परम स्थिति नहीं है। साहित्यिक विद्रोह के अन्तर्गत स्थितियों की विसंगतियां, अन्तर्विरोध और तनाव अभिव्यक्त होते ही हैं। इसीलिये विद्रोही साहित्यकार को जीवनस्थितियों के

साक्ष्य के बल पर और उनका अतिक्रमण करते हुए विद्रोह की क्रियात्मक शक्ति और संगति का अन्दाज़ लगाना होता है। इससे कृतिमें विद्रोह की प्रकृति और रेंज निर्धारित होती है। वास्तव में मुख्य समस्या यह है कि विद्रोह की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति किस रूप में हो ? यहीं भाषायी संरचना और रवैयों का प्रश्न उठता है। विद्रोह और संघर्ष की भाषा को पोथीभाषा से निकाल कर जनभाषा के करीब लाने की जरूरत है। संघर्ष के पुराने ढर्रों-ढांचों को बदलने (क्योंकि संघर्ष के पुराने तरीकों से व्यवस्था अच्छी तरह वाकिफ है और उन्हें आसानी से हजम कर जाती है) और नये तौर-तरीके अपनाने की जरूरत है। विद्रोह की प्रारम्भिक अवस्थाओं में जो तात्कालिक उत्तेजना, शहीदाना अन्दाज़ और रोमानी तेवर रहता है, उसे ऐसी भाषा और रवैयों द्वारा ही अभिव्यक्ति योग्य बनाया जा सकता है। लेखक यदि इन्हीं अवस्थाओं का चित्रण साहित्य में करता है तो ऐसा साहित्य भावुक विस्फोट, शाब्दिक तनाव और बड़बोलेपन के अलावा और क्या हो सकता है ? सर्जनात्मक विद्रोह की अभिव्यक्ति तभी सम्भव ; जब लेखक प्रारम्भिक उत्तेजनाओं और आवेशों से उबर कर या उनका सर्जनात्मक इस्तेमाल कर विद्रोह को प्रौढ़ वैचारिक आधार दे। पर अक्सर देखने में आता है कि विद्रोह को भाव-जगत की वस्तु बना कर अमूर्त सरलीकरणों और कृत्रिम सम्वेदन-वृत्तों में उलझाने की छूट ले ली जाती है। वास्तविक विद्रोह-चेतना को दबा या धुन्धला दिया जाता है और अन्तहीन स्थिति के भंवरजाल में फैंक दिया जाता है जहां उसका कोई निस्तार नहीं, जहां विद्रोह का आभास तक नहीं हो पाता। हिंदी में आज भी कुछ तथाकथित विद्रोही लेखक हैं जो एक ओर शब्दोंमें हवा भरकर पूरे तन्त्र को चुनौती देते हैं और दूसरी ओर भक्तिभाव से लिसलिसाते हुए व्यवस्था-भवन में धंस जाते हैं। यह विद्रोह की विडम्बना है कि जो विद्रोह स्थिति के सामने विकल्प का, अमानवीय सामाजिक स्थितिमें बदलाव की क्रांतिकारी चेतना का माध्यम बनना चाहिए, वही स्थिति के सामने समर्पण का माध्यम बन जाता है।

इस बात पर गौर किया जाना चाहिए कि लेखकों- बौद्धिकों की मानसिकता और संस्कार भी कई बार परिवर्तनों के आड़े आ जाते हैं। लेखकों-बौद्धिकों का एक वर्ग ऐसा भी है जो कहता है, "भई ! मैं स्वयं इन बातों को ठीक नहीं समझता। पर, मुझे लगता है हम व्यवस्था को बदल नहीं सकते।" दूसरे ऐसे लेखक-बौद्धिक भी हैं जो साफ-साफ व्यवस्था का पक्ष लेते हैं, उसकी नीतियों का समर्थन करते हैं और उसकी पैरवी के लिये तर्क गढ़ते रहते हैं। लेखकों- बौद्धिकों के ये दोनों वर्ग व्यवस्था-पोषक ही कहे जायेंगे जिनसे सही विद्रोही लेखकों की टकाराहट निरन्तर चलती रहती है।

विद्रोह का अभिग्रहण जब तक भावनामूलक अर्थ में होता रहेगा तब तक विद्रोह साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में ही नहीं, व्यापक सामाजिक परिवर्तन के अर्थों में भी असफल सिद्ध होता रहेगा। अगर विद्रोह किसी विचार पर टिका हुआ न होकर अपनी प्रकृति में स्नायुविक है तब विद्रोह को संवाद या जिरह के महत्वपूर्ण कार्यों के लिये संयोजित नहीं किया जा सकता और न ही उसे सामाजिक उथल-पुथल या क्रांति के एक कारगर हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जा सकेगा। इसमें शायद ही किसी को सन्देह हो कि विचार द्वारा ही विद्रोहात्मक आवेश संयत किया जा सकता है और उसे कलात्मक अभिव्यक्ति के योग्य बनाया जा सकता है। विचार द्वारा यह पहचान भी हो सकती है कि विद्रोह की अभिव्यक्ति का रूप कितना वास्तविक या अवास्तविक है और आधुनिक जीवन-स्थितियों में उसकी संगति क्या और कहां तक है?

नाज़िम हिकमत की कविता की कुछ पंक्तियां हैं:

....मैं इंसानों के बीच हूँ/प्यार करता हूं इंसानियत को/मुझे/भाती है सक्रियता/मुझे रुचते हैं विचार/मैं प्यार करता हूं/अपने संघर्ष को/तुम इंसान हो मेरे संघर्ष के/ बीच मेरी प्रिया/मैं/तुम्हें प्यार करता हूं।

मुझे लगता है ये पंक्तियां विद्रोह, संघर्ष और परिवर्तन के अन्तर्वर्ती सूत्रों को ही नहीं, उसकी मूलचेतना को भी तीव्रता से उजागर करती हैं। सही तौर पर विद्रोह और संघर्ष वही आदमी कर सकता है जो संघर्षोंके बीचोंबीच अपनी प्रिया को प्यार कर सकता है। उसके सामने प्रेम और प्रिया का कोई विशुद्ध एकांतिक रूप नहीं होता। वह व्यापक और देर तक चलने वाले संघर्षों के बीच प्रिया को प्यार करने की सामर्थ्य और शक्ति को अपने भीतर संजोता रहता है। यह सामर्थ्य और शक्ति विद्रोह के मानवीय पक्ष का अविछिन्न रूप है। विद्रोह और संघर्ष की यह परिकल्पना अन्ततः मानवीय बने रहने और मानवीयता के पक्ष को मजबूत बनाते रहने की हर मुमकिन कोशिश की गवाही ही है। विद्रोह और संघर्ष की चेतना एक ओर वैचारिक सक्रियता का बोध कराती है, दूसरी ओर विचारों को अमल में ढालने के लिये प्रेरित करती है या उस ओर अग्रसर करती है और विचार और अमल के बीच के फासले को पाटने की प्रक्रिया ही लेखन की चुनौतियों भरी जटिल प्रक्रिया है जहां सिद्धांत अनुभवों की आंच में तपने शुरू होते हैं और सर्जक व्यक्तित्व रचनात्मक मानसिकता में से भाव, सम्वेदनायें और विचार छन कर और निथर कर अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रक्रिया की पहचान किसी भी अच्छे लेखक के लिये ज़रूरी है। इस रचनात्मक परिप्रेक्ष्य में विद्रोह, संघर्ष, परिवर्तन साहित्य के अन्तर्सम्बन्धों और अन्तरावलम्बन को भलीभांति समझा जा सकता है।

———

लेख

आठवें दशक की हिन्दी कविता

—डा० अब्दुल बिस्मिल्लाह

कविता के सन्दर्भ में जिस धारदार तेवर की बात अक्सर उठाई जाती है; आठवें दशक की हिन्दी कविता में वह किस सीमा तक प्रतिफलित हो सका है, इस प्रश्न का विवेचन इसलिये ज़रूरी है कि सन् 1970 से पहले ऐसी बात करने वाले कम ही लोग थे; जबकि धूमिल जैसे कवि अपनी रचनाओं में वही धारदार तेवर पैदा कर रहे थे जिसे बाद में एक अनिवार्य गुण के रूप में स्वीकार किया गया।

वैसे 1970 और 1980 के बीच का पूरा कालखण्ड कुछ ऐसी हलचलों के बीच से गुज़रा कि इस दर्म्यान की कविता का धारदार हो जाना अनपेक्षित नहीं प्रतीत हुआ। आठवां दशक आरम्भ होते ही भारत को पाकिस्तान जैसे पड़ोसी मुल्क से जूझना पड़ा। बंगला देश की क्रांति ने भारतीय जनमानस को ही नहीं; यहां की अर्थ- व्यवस्था को भी बड़ी दूर तक प्रभावित किया; जिसके परिणाम एक लम्बे अरसे तक भोगने पड़े। और इस बीच विश्व में कुछ ऐसी घटनायें घटीं जिन्होंने बार- बार भारतीय चेतना को उद्वेलित किया। लंका और पाकिस्तान से लेकर ईरान और अफगानिस्तान तक की परिस्थितियों से लोग दो- चार हुए। और आपात् काल का काला इतिहास तो पूरे दशक का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन गया।

हिन्दी कविता इन तमाम परिस्थितियों से अनुस्यूत होती हुई विकसित होती रही। अस्तु ! इस पूरे दशक में कई तरह के कवि सक्रिय रहे और अनेक कविता-संग्रह चर्चित हुए जिनमें कुछ इस प्रकार हैं : **कन्धे पर सूरज** (रामदरश मिश्र), **दीवारों पर खून से** (चन्द्रकांत देवताले), **जमीन पक रही है** (केदारनाथ सिंह), **इस हादसे में** (नरेन्द्र मोहन), **मुर्दागाड़ी, काली कवितायें** (प्रणवकुमार वन्द्योपाध्याय), **सलीब पर** (नरेन्द्र वशिष्ठ), **नाटक जारी है, रात अब भी मौजूद है, बची हुई पृथ्वी** (लीलाधर जगूड़ी), **लुकमानअली** (सौमित्र मोहन), **जंगल खामोश है** (नीलाभ), **शिलानगर में** (श्यामसिंह शशि), **रास्ते के बीच** (दिविक रमेश) आदि। कुछ कविता- संग्रह इस दशक के एकदम

अन्त में भी प्रकाशित हुए। जैसे : लक्कड़बग्घा हंस रहा है (चन्द्रकांत देवताले), खिचड़ी विप्लव देखा हमने (नागार्जुन), एक दिन बोलेंगे पेड़ (राजेश जोशी), सुनो कारीगर (उदयप्रकाश), वह आदमी नया गरमकोट पहिन कर चला गया विचार की तरह (विनोदकुमार शुक्ल), दो बहनें (असद जैदी) बहस जरूरी है (देवेन्द्रकुमार) बीड़ी बुझने के करीब (मानबहादुरसिंह) आदि। इनके अलावा पंकजसिंह, ज्ञानेन्द्रपति, कुमारेन्द्र पारसनाथसिंह आदि कवियों के कविता- संग्रह भी प्रकाशित हुए। कुछ संग्रहों को 'कविता की वापसी' नामक नारे ने तथा सरकारी खरीद के वितण्डावाद ने भी बाहर लाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

इसके अतिरिक्त एक ऐसी धारा इस दशक में प्रवाहित रही जिसका मार्ग विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं और संकलनों के माध्यम से प्रशस्त हुआ। इस दृष्टि से आठवें दशक की कविता का आरम्भ अशोक वाजपेयी द्वारा सम्पादित 'पहचान' सीरीज के प्रकाशन के साथ माना जा सकता है। जो बहुत कोशिश के बाद भी कविता में कोई धमाका नहीं पैदा कर सका। 1973 मे संचेतना ने अपना विचार- कविता- अंक प्रकाशित करके कविता में वैचारिकता को सार्थक ढंग से स्थापित करने का प्रयत्न किया और 'विचार कविता' के समानान्तर 'कङ्क' के सम्पादक श्री निर्मल शर्मा ने रतलाम (म० प्र०) से 'नाराज-कविता' की आन्दोलनात्मक घोषणा की, जो न जाने क्यों क्रियान्वित न हो सकी। यही हश्र विनोद गोदरे की 'खबरदार' कविता का हुआ। हालांकि कङ्क ने अब अपना जनवादी कविता अंक निकाल कर कविता की नाराजी को बहुत कुछ शांत कर दिया है।

आंदोलनात्मक चेष्टाओं का सम्भवत: शमन करने के लिए सन् 1974 में डॉ० जगदीश गुप्त ने 'त्रयी' नाम से तीन कवियों का एक संकलन प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने एक नये और दो पुराने कवियों को शामिल किया। लेकिन जिन लोगों को कविता पढ़ने से ज्यादा लज्जत डा० जगदीश गुप्त का छिद्रान्वेषण करने में मिलता है उन्होंने 'त्रयी' के प्रकाशन को 'साहित्यिक चौधराहट स्थापित करने का साधनमात्र घोषित किया और सम्पादकीय के विरुद्ध एक लम्बी तकरीर करने के बाद "संकलित कवियों की रचनाओं पर कुछ लिख पाना असम्भव है" कह कर अखाड़े से बाहर चले गए।

सन् 1975 में विनोद शाही और अशोक सुधांशु के सम्पादन में कविता को वैज्ञानिक धरातल प्रदान कराने के उद्देश्य से 'शिविर' नामक संकलन का प्रकाशन किया

गया जिसकी कविताओं को कुछ लोगों ने शैवरिक कविताओं की संज्ञा दी। लेकिन यह शिविर एक अंक के बाद ही उखड़ गया।

फिर लगभग डेढ़ वर्ष तक सन्नाटा रहा। यह वह दौर था जब इस देश में इमरजेंसी लगी हुई थी और रचनाकारों के होंठ सिल दिये गये थे। सत्ता का आतंक व्याप्त था कि क्रांति की दुहाई देने वाले बड़े-बड़े साहित्यिक रणधीर भी तानाशाही के ताले तोड़ने में असमर्थ रहे, जो उनके मुंहों में जड़े हुए थे। और, आपात् काल समाप्त होते ही एक ओर से शोर उठना शुरू हुआ कि ऐसे काले दिनों में भी अपेक्षित श्रेष्ठ साहित्य नहीं लिखा गया। क्यों नहीं लिखा गया ? इस प्रश्न पर भी खूब चिल्ल-पों हुई। और मौका देख कर भवानी भाई अपनी 'त्रिकाल-संध्या' लेकर हाज़िर हो गए।

लेकिन उसी इमरजेंसी में केशिकांत जैसे निपट अख्यात कवि की 'ढीली ज़बान' पुस्तिका भी निकली और सन् 1977 का चुनाव आते- आते मेरा संग्रह 'मुझे बोलने दो' भी प्रकाशित हो गया। पर, केशिकांत एक नया नाम था और 'मुझे बोलने दो' का मेकअप ठीक न था। इसलिए इमरजेंसी के काल को कविता से खाली रखना ही बेहतर समझा गया।

चुनव के बाद 'त्रयी' का दूसरा अंक प्रकाश में आया, जिसमें युयुत्सावादी कविता के जनक शलभ श्री रामसिंह, विचार कविता के प्रमुख कवि राजकुमार कुंभज और मुझे, एक साथ शामिल किया गया। परिणाम स्पष्ट था। इतनी खरी-खोटी सुनने के बाद श्री जगदीश गुप्त की हिम्मत कैसे पड़ गयी दूसरा अंक निकालने की ? साथी वेणुगोपाल ने कहा, 'इस बार मुझे निबट लेने दो।' और आवेश में आकर उन्होंने ऐसी तलवार चलाई कि मैं और कुम्भज तो कवि ही नहीं रहे, चोट शलभ को लगी। लेकिन चूंकि वे वेणुगोपाल समर्थक हैं, इसलिए उन्हें कतल से बरी कर दिया गया। और, पता नहीं मुझे उन्होंने क्या समझा कि मेरी एक रचना 'कलुवे की कविता' से उन्हें कुछ उम्मीद बंधती हुई दिखाई दे गयी। और, इस बात को दबी ज़ुबान से उन्होंने स्वीकार कर लिया।

उन्हीं दिनों कविता के क्षेत्र में 'जनवादी' विशेषण का प्रवेश बड़ी तेजी के साथ हुआ और देखते- ही- देखते दो- दो जनवादी कविता अंक निकल गए। एक गोरखपुर से 'भंगिमा' का और दूरसा मुज़फ्फरपुर से 'आइना' का। इनमें 'आइना' का

---

१. द्रष्टव्य पूर्वग्रह, सितम्बर-दिसम्बर में प्रकाशित वेणुगोपाल की टिप्पणी।

जनवादी कविता अंक बहुत व्यापक रहा। इसमें पुरानी पीढ़ी के कवि भी हैं और नयी पीढ़ी के भी। लेकिन इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि कवितायें जनवादी धारा से भिन्न न हों।

निश्चय ही यह एक सार्थक कदम था और जनवादी कविता के समुचित विकास में ऐसे संयोजन महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। लेकिन या तो साधनों के अभाववश या अन्य किसी कारणवश यह प्रयत्न एक विशेषांक तक ही सीमित रह गया।

हालांकि 'पूर्वग्रह' ने भी अपने कविता अंक का तेवर जनवाद के आसपास ही रखा। पर, उसकी कवितायें लड़की, चिड़िया और फूल-पत्तियों के बिम्बों का अतिक्रमण करके आगे नहीं बढ़ सकीं। वल्कि 'लहर' ने अपने जो दो कविता-विशेषाँक निकाले, उनमें इस धारा को विकसित करने की काफी सम्भावनायें विद्यमान हैं।

सन् 1978 में कविता से जुड़े दो विशेषण फिर सामने आये। वाम कविता (सं० ललित शुक्ल) और आज की कविता (सं० प्रभात मित्तल)। इनमें 'वाम कविता' के अन्तर्गत कुछेक को छोड़कर ऐसी-ऐसी कवितायें सम्मिलित की गयी हैं, जिन्हें ललित शुक्ल की सम्पादकीय मान्यताओं के समांतर रखकर देखने में निराशा ही हाथ लगती है। और, 'पश्यन्ती' ने 'आज की कविता' के अन्तर्गत जिन कविताओं को प्रतिनिधित्व प्रदान किया है, आठवें दशक की काव्यात्मक चेतना को वे बहुत कुछ उद्घाटित करती हैं, इसमें सन्देह नहीं।

सन् 1978 में 'पहल' ने अपना समकालीन कविता अंक प्रकाशित किया, जिसमें हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं की कवितायें भी संग्रहीत हैं। आठवें दशक की कविता के स्वरूप को समझने और कविता की सही स्थिति को परखने में यह संकलन पर्याप्त सहायता करेगा।

और अंततः अज्ञेय ने भी समकालीन कविता पर अपनी मुहर लगा ही दी—चौथा सप्तक निकाल कर। इस संग्रह की प्रतिक्रिया भी वही हुई जो 'त्रयी' की हुई थी। लेकिन इतना तो लगता है कि 'चौथा सप्तक' का राग कुल मिलाकर अज्ञेय-संगीत से भिन्न नहीं रहा—कुछेक कविताओं को छोड़कर, जबकि 'त्रयी' की कविताओं पर जगदीश गुप्त कतई हावी नहीं लगते। 'चौथा सप्तक' तो इस हद तक उद्देश्यहीन प्रयास है कि सम्पादक महोदय अपनी इस प्रस्तुति के प्रति कुछ बोलने में भी हिचकते हैं और आत्मश्लाघा के उन्माद में बहुत कुछ बोल जाते हैं। वे कहते हैं, "पहले तीन

सप्तकों का सम्पादन करते हुए मैं यह अनुभव करता रहा था कि मैं काव्य में कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का व्याख्याता या वकील हूं जिनके साथ मेरी सहानुभूति है... । तीसरा सप्तक के बाद मुझे ऐसा जान पड़ा कि वे नयी प्रवृत्तियां काव्यप्रेमी समाज में पूरी तरह स्वीकृति पा गयी हैं । कुछ वर्षों में तो ऐसा भी अनुभव हुआ कि स्वीकार की प्रक्रिया इतनी आगे बढ़ गयी कि नयी रचनाओं का दोष देखना भी कठिन हो गया है । उस धारा में बह कर आने वाला सभी कुछ स्वीकार कर लिया जाता है । और, यहां तक कि पत्र- पत्रिकाओं के सम्पादकों को अपने विवेक से काम लेते डर लगता है । अर्थात् अज्ञेय को कविता की एक ऐसी धारा प्रवाहित करने का श्रेय है जिसमें भूषण और दूषण इतने अभिन्न हैं कि सरलतापूर्वक उनकी पहचान करना असम्भव था । सम्पादकों के विवेक पर सन्देह करने वाले तथा कविता के लिये ज्ञानपीठ पुरस्कार पाने वाले अज्ञेय का विवेक यह है कि "आज की कविता बहुत बोलती है, जबकि कविता का काम बोलना है ही नहीं ।" अर्थात् अज्ञेय जी चाहते हैं कि कविता चुप रहे । आज, जबकि चुप्पी तोड़ने की बात उठाई जा रही है, अपने मौनवाद की स्थापना करके वे हिन्दी- कविता को पता नहीं कहां ले जाना चाहते हैं ? खैर... आज की कविता को चुप कराना सरल नहीं है, क्योंकि यह कविता उन कवियों के भीतर से निःसृत है, जो ज़िन्दगी की सारी कड़ुवाहट को पीते हुए रचना-कर्म में निरत हैं । यह दूसरी बात है कि ऐसे कवि कम हैं ।

इस पूरे दशक में जिस कवि की चर्चा सबसे ज्यादा हुई, वे हैं लीलाधर जगूड़ी । सन् 1972 में जब उनका प्रथम कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ तभी से वे हिन्दी के एक उल्लेखनीय कवि बना दिये गये; हालांकि उनकी कविता धूमिल की प्रतिक्रिया से अधिक दूर नहीं है । फिर भी जगूड़ी में चिंतन का एक स्पष्ट रूप परिलक्षित होता है और कविता को व्यापक परिदृश्य प्रदान करके उसमें तीखापन उत्पन्न करने का जो प्रयास उन्होंने किया है, वह निस्सन्देह सराहनीय है ।

जगूड़ी के अतिरिक्त हिन्दी के जो सैंकड़ों कवि इस दशक में जन्मे हैं, उनमें-से उभर कर आनेवाले कुछ नाम इस प्रकार हैं : राजकुमार कुम्भज, ऋतुराज, विजेन्द्र अनिल, पंकजसिंह, मंगलेश डबराल, राजेश जोशी, दिविक रमेश, उदयप्रकाश, असद ज़ैदी, ज्ञानेन्द्रपति, बलदेव वंशी, सौमित्रमोहन आदि । इनके अतिरिक्त कुमारेन्द्र,

---

१. चौथा सप्तक की भूमिका, पृ० ८

२. चौथा सप्तक की भूमिका पृ० १४

पारसनाथसिंह और भगवत रावत जैसे वे कवि भी इस दशक में उभरे जो नयी कविता के दौर में पिछड़ चुके थे।

उपर्युक्त कवियों में कुम्भज एक ऐसे कवि हैं जो विचार कविता में भी हैं, शिविर एवं त्रयी में भी हैं और वाम कविता, जनवादी कविता तथा चौथा सप्तक में भी हैं। उनकी यह सर्वव्याप्ति उन पर विचार करने के लिए प्रेरित करती है। लेकिन कुम्भज की कविताओं को पढ़ने के बाद लगता है कि उनमें शिल्प का जो एडजस्टमेंट है, उसी के तहत वे सर्वत्र ग्राह्य रहे हैं।

जनवादी विचारधारा के अन्तर्गत पूरी तरह स्वीकृत कवियों में ऋतुराज, बिजेन्द्र अनिल, पंकजसिंह, मंगलेश डबराल, राजेश जोशी, उदयप्रकाश और ज्ञानेन्द्रपति के नाम प्रमुख हैं। इनमें भी अपनी वैचारिक प्रखरता के कारण सर्वाधिक चर्चित कवि ऋतुराज और ज्ञानेन्द्रपति रहे हैं। इधर कुछ आलोचकीय साज़िश के तहत दो-चार अन्य कवि भी चर्चित किये गए हैं और अनेक जेनुइन कविओं को उपेक्षित किया गया है।

और, अब लगे हाथ इस कालखण्ड की हिन्दी कविता की मूलभूत विशेषताओं और प्रवृत्तियों की चर्चा भी कर ली जाय।

आठवें दशक की कविता का समग्र आकलन करने के उपरांत उसकी प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में जो विहंगम रेखांकन बनता है, वह इस प्रकार है :

1. वैचारिकता का समावेश।
2. कथात्मकता की प्रगति।
3. व्यक्तिवाद का विरोध और जनवाद का ग्रहण।
4. रूपात्मक जटिलता का त्याग।
5. मुखर बिम्ब-ग्रहण।
6. राजनैतिक चेतना का विकास।

सन् 1956 ई० में लिखित 'भविष्य की कविता' नामक एक निबन्ध के अन्तर्गत दिनकर जी ने कहा था, "अगला युग विचारक कवियों का होगा, क्योंकि विचारों के कविता का विषय बनने में कोई दोष नहीं है...।" और आठवें दशक में विचार कविता का उदय सहज ही हो जाता है। दरअसल कविता में वैचारिकता को प्रमुखता प्रदान करने का संकल्प इसलिए दृढ़तर हुआ कि रचना को मनोव्यापार की

अपेक्षा एक आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया गया। यह माना गया कि कविता एक जिम्मेदारी है, जो मानवीय तथा पर्यावरणीय- अन्तर्विरोधों पर विमर्श करती है और ज़िन्दगी की जड़ता को तोड़ती है। आठवें दशक की कविता के अध्येताओं को यह अनुभव हुआ होगा कि कल्पनाओं के लालित्य की अपेक्षा विचारों की गहनता ने हिन्दी कविता को अधिक शक्ति प्रदान की है। यह दूसरी बात है कि 'विचार-कविता' स्लोगन से बाहर हटकर लिखी गई कविताओं में यह शक्ति प्रायः अधिक दिखाई पड़ती है।

इसी प्रकार लम्बी कविता के व्यापक प्रचलन के फलस्वरूप कथात्मक कविताओं में पर्याप्त प्रगति हुई और कविता में चारित्रिक विकास को सही दिशा प्राप्त हुई। धूमिल के 'मोचीराम' से लेकर सौमित्रमोहन के 'लुकमान अली' तक की कथात्मक कविता यात्रा इस तथ्य को प्रमाणित करती है। इस कालखण्ड में ऐसी ढेर सारी कवितायें लिखी गयीं, जिनमें बलदेव खटिक (जगूड़ी), रामसेवक (दिविक रमेश), कलजुगी नरायन (अब्दुल बिस्मिल्लाह) आदि अनेक रचनाओं के नाम लिये जा सकते हैं। इनके समानांतर अपेक्षाकृत छोटी और कथात्मक कविता से कुछ भिन्न होते हुए भी विश्वनाथप्रसाद तिवारी की कविता 'गाय' कई दृष्टियों से एक महत्वपूर्ण रचना है।

लेकिन कविताओं में चित्रित उक्त चरित्र वैयक्तिक कदापि नहीं हैं। वे किसी-न-किसी वर्ग विशेष के प्रतिनिधि के रूप में ग्रहण किये गए हैं। और, इस सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है कि आठवें दशक की कविता में व्यक्तिवाद का तीव्र विरोध दिखाई पड़ता है। साथ ही कविता का जनवादी रुझान प्रखरतम होता चला गया है और कविता को कटी हुई जनता से जोड़ने के लिए कवियों ने खुले दिल से रूपात्मक जटिलता का त्याग करके ऐसे बिम्ब ग्रहण किये हैं, जो सहज भी हैं और मुखर भी। उदाहरणार्थ 'खिड़की' का एक बिम्ब द्रष्टव्य है :

> मुझे यह खिड़की खोलनी चाहिए
> जो तमाम खिड़कियों के
> खुलने की शुरुआत है।
>
> —पहल/१३

---

१. द्रष्टव्य : काव्य की भूमिका, पृ० १०४

इस कविता में राजनैतिक चेतना की अनुगूंज भी देखी जा सकती है। आठवें दशक की कविता में इस प्रकार की चेतना तेज़ी से उभरती हुई लक्षित होती है और वह कभी बिम्बों के द्वारा तो कभी मारक व्यंग्यों के द्वारा अभिव्यक्त होती है। दरअसल आज का आदमी जिन विसंगतियों को जी रहा है, उनके प्रति एक ज़िम्मेदार कवि के मन में व्यंग्य के सिवा और क्या उभर सकता है ? यही कारण है कि कविता में व्यंग्य का विकास बड़ी तेज़ी के साथ हुआ है और गद्य की अपेक्षा कविता का व्यंग्य अधिक पैना दिखाई पड़ता है।

हलांकि 'नयी कविता' वाले दौर में ही व्यंग्य की ज़रूरत का एहसास हो चुका था। रमेशचन्द्र शाह ने उस समय लिखा था कि "हमारी सामाजिक, राजनैतिक कविता के लिए भी यह आवश्यक है कि हमारा व्यंग्य विशिष्ट बौद्धिक तेजस्विता और गहरी पैंठ से सम्पन्न हो।" बाद में विचार कविता के अन्तर्गत भी व्यंग्य को कविता के लिये एक अनिवार्य स्वरूप में स्वीकार किया गया। डा० रमेशकुन्तल मेघ ने स्पष्ट घोषणा की कि विचार की पहली काव्यात्मक शुरूआत व्यंग्य (सेटायर) में हुआ करती है, जो धार्मिक तथा दार्शनिक गम्भीरता का मुकाबला करता है। (मध्यकाल में) कबीर ने तुलसी के मुकाबले, निराला ने प्रसाद के मुकाबले और नागार्जुन ने छायावाद के मुकाबले में व्यंग्य के माध्यम से वैचारिक प्रखरता तथा विद्रोह को उजागर किया।" और इसमें सन्देह नहीं कि बाद में चलकर धूमिल ने प्रयोगवाद के मुकाबले ठीक इसी प्रकार का विद्रोह खड़ा किया तथा आठवें दशक के अनेक कवि उन तमाम सस्ती रूमानी प्रवृत्तियों के विरुद्ध सक्रिय रहे, जो हिन्दी कविता को नीचे गिराने के षडयन्त्र में अब भी रत हैं।

आठवें दशक की कविता में जो निश्चयात्मक स्वर दिखाई पड़ता है, उसका कारण भी यही विद्रोहभाव है जो सम्पूर्ण गलत स्थितियों के प्रति कवि के मन में पनप रहा है :

> उदास लोगो !
> उठो और फ़ैसला दो
> उठो और जिसने कल तुम्हें कुचला था
> उसे घोड़े की नाल बना दो
>
> —रात अब भी मौजूद है

१. नयी कविता—८, पृ० २३६

इस दशक के जागरूक कवियों ने एक महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि कविता को दिमागी ऐयाशी से बाहर करके उसे जन-चिन्तन के साथ जोड़ा। और यह कहने में मुझे कोई अत्युक्ति नहीं लगती कि आठवें दशक की कविता अपनी समग्रता में जनवादी विचारधारा से अच्छी तरह अनुप्राणित है तथा उसमें आदमी और उसकी ज़िन्दगी को बेहतर बनाने की एक तीव्र छटपटाहट है। इस दशक की कविता व्यंग्य, विचार और जन-चिन्तन की समन्वित परिणति है और भविष्य में इस प्रवृत्ति का समुचित विकास होगा, ऐसी आशा की जा सकती है। वैसे यह तो निर्विवाद सत्य है कि भविष्य की कविता का तेवर अपेक्षाकृत अधिक प्रखर होगा। कथात्मक और चरित्रप्रधान के विकास के साथ साथ कविता में जनवादी चिन्तन और व्यंग्यात्मक प्रस्तुति की प्रधानता होगी। आश्चर्य नहीं कि जनवादी कविता व्यंग्यात्मक कविता के रूप में परिणत होकर कविता के क्षेत्र में एक जुझारू माहौल तैयार कर दे। कविता अब आदमी को उसकी समग्रता में देखने की ओर तेज़ी से अग्रसरित हो रही है।

—ए—२४/१५, कोयला बाज़ार
वाराणसी—२२१००१.

पांडवों से सम्बंधित तीन एंजलियां

—प्रियतमकृष्ण कौल

डोगरा पहाड़ी क्षेत्र में पांडवों से संवन्धित कई भक्तिगीत जिन्हें इस क्षेत्र में एंजली कहते हैं, मिलते हैं। इन एंजलियों का अपना विशेष ऐतिहासिक और लोक-साहित्यिक महत्व है। इन एंजलियों में लोकमानव के सीधे और सच्चे भाव कितनी सच्चाई और सरलता के साथ अभिव्यक्त हुए हैं यह देखते ही बनता है। इस लेख में पांडवों से सम्बन्ध रखने वाली तीन एंजलियों/भक्तिगीतों की समीक्षा प्रस्तुत है।

पहली चर्चित एंजली में वर्णित है कि पांडवों को घमण्ड हो गया था, इसी कारण उन्हें बनवास मिला। घमण्ड, गर्व या अहं लोकमानव का मूलभाव या वृत्ति नहीं। अहंकार सभ्यता का लक्षण है। और, शायद इसी कारण लोककवि ने पांडवों के गर्व से सम्बन्धित इस एंजली में गर्व का तिरस्कार दिखाया है और गर्व करने वालों को सज़ा मिलती दिखाई है। इस क्षेत्र में वहुत-सी लड़ाइयां क्षत्रियों के अहंकार से ही जनमीं और अपने घमण्ड की रक्षा के लिए वे अपनी हर चीज़, अपना आप, अपनी पत्नी, अपना देश, अपना राज्य भी निछावर करते रहे। पांडवों से सम्बन्ध रखने वाली इस एंजली में दिखाया गया है कि बनवास में पांडव एक बछिया को हरणी समझ मार कर खा गए। पर, सत्य का पता लगने पर उन्हें बड़ा पश्चाताप हुआ। उन्हें गउकण (एक धार्मिक दण्ड) झेलना पड़ा और अर्धकम्मी भी नहानी पड़ी। एंजली के बोल इस तरह हैं :—

मेरे भाई बो ! गर्व कीता पांडमें छड़े तन खण्डे लाई बो !
मेरे भाई बो ! नीलिया दुमनोलिया हरणी चरांती लाई बो !
मेरे भाई बो ! तेने भाइए नोकले हरणी चरांती लाई बो !
मेरे भाई बो ! वाण बाई भइए अर्जने हरणी मेरी चुकाई बो !
मेरे भाई बो ! बली भईए भीमसेने हरणी अन्दी उठाई बो !
मेरे भाई बो ! तेनी राजे जुष्ठले हरणी रसोई चढ़ाई बो !

मेरे भाई बो ! खट्टी-पीती हरणोटी, शिरि, खुरी, पोछड़ी दवाई बो !
मेरे भाई बो ! हत्थे घिनी त्रम्बड़ी सेइ राजे बछड़ी तोपनी लाई बो !
मेरे भाई बो ! बने रे बनवासी हो, तुस्से मेरी बछड़ी मत लाई बो !
मेरे भाई बो ! छतरी अस लोक, क्या जानें बछड़ी री सार बो !
मेरे भाई बो ! हक मारी सई राजे, सिरी, खुरी पोछड़ी करलाई
मेरे भाई बो ! छतरी तुस लोक नाई, तुस कोई बड़े कसाई
मेरे भाई बो ! गर्व कीता पांडमें तां छडया गउकण फसाई
मेरे भाई बो ! गर्व कीता पांडमें तां छडे बन खण्डे लाई बो !

अब पांडवों से सम्बन्ध रखने वाली दूसरी एंजली भी देखिए। राम तथा उनके पुत्रों (लव-कुश) के बीच हुए युद्ध की बात तो सभी ने सुनी होगी। पर, अर्जुन और उसके पुत्र के बीच भी युद्ध हुआ था यह बात कुछ नई लगेगी। पर, इस पहाड़ी एंजली में वर्णित यह घटना लोककवि द्वारा बहुत पहले वर्णित हुई है और लोकमानव इसे पहले से जानता है। अर्जुन ने अपने पिता पांडव की बरसी पर गेंडा मारना चाहा, क्योंकि गुरु ने बरसी पर गेंडे के मांस की आवश्यकता जतलाई थी। बड़ी मुश्किल से डुमसरु तालाब के पास गेंडा मारा गया। पर, गेंडा मर कर गिरा तो धरती हिल गई। कउता (अर्जुन की एक अन्य पत्नी) के पुत्र को जो अभी छोटा बालक था और पिता को पहचानता नहीं था—गेंडे के मरने पर बड़ा क्रोध आ गया। उसने अपनी माता को गेंडे के मरने की सूचना दी और धनुष बाण लेकर गेंडे की तलाश में चल पड़ा। डुमसरु तालाव के किनारे अर्जुन और कउता के पुत्र के बीच घोर युद्ध हुआ। लड़के ने डुलत बाण मारा तो धरती डोलने लगी। अर्जुन ने थम्मन बाण मारा तो धरती टिक गई। लड़के ने अग्निबाण मारा और जवाब में अर्जुन ने इन्द्रबाण चलाया। लड़के को बहुत क्रोध आया और उसने कालबाण छोड़ दिया। अर्जुन धरती पर चारों शाने चित्त गिर पड़ा। और धरती कांप गयी; खुशी से बालक मां के पास दौड़ा गया और बोला, "माँ ! मैंने गेंडे को मारने वाले धेन्ते (धनुषधारी) को मार डाला।" मां पूछने लगी "बेटा, मरते समय उसने किसका नाम लिया था ?" बेटे ने कहा, "मां ! मरते समय उसने कउता को आवाज़ दी थी।" मां ठिठक कर रह गयी, बोली—"बेटा तूने ठीक नहीं किया। तूने अपनी मां को ही विधवा बना दिया।"

घबराया हुआ बालक ननिहाल पहुँचा और वासुकी से कहने लगा—मुझे थोड़ा अमृत दे दो, नहीं तो मैं आपका छप्पड़ फोड़ दूंगा और साथी शिशु नागों को मार डालूंगा। घबरा कर वासुकी ने बालक को अमृत दे दिया। बालक ने अमृत छिड़क

कर अर्जुन को पुनः जीवित कर दिया। पिता-पुत्र प्रेम से गले मिले और पांडव की बरसी ठीक तरह से मनाई गयी जिसमें गेंडे का मांस भी पकाया गया। इस प्रकार इस एंजली में कुछ विशेष बातों का भी उल्लेख है :—

(i) एंजली में गेंडे का मांस पकाए जाने की बात है।

(ii) एंजली में प्याला लोक, मांसलोक, सर्वतलाई, डुमसरू डल तथा हिनी धार जैसे शब्दों का प्रयोग नाथपंथ और वाममार्ग के प्रभाव को जतलाता है, जिस का पहाड़ों में अधिक प्रचलन रहा है।

(iii) एंजली में अर्जुन का रिश्ता बासुकी नाग के कुल से बताया गया है।

(iv) पर, सबसे महत्वपूर्ण बात यह देखने की है कि राम और लवकुश-युद्ध की बातें सच्ची हैं या अर्जुन और उसके पुत्र की यह लड़ाई, जो इस एंजली में इतने सीधे और सच्चे रूप में वर्णित हुई है।

शायद इसी तरह की गुत्थियों को सुलझाते हुए विद्वानों का यह विचार बना हो कि रामायण और महाभारत में अन्तर्युक्त बहुत सी कथायें पहले लोककथाओं के रूप में ही प्रचलित थीं, जिन्हें कालांतर में आधार बना कर आदिकवियों ने रामायण और महाभारत काव्यों में समाविष्ट किया।

अब इस एंजली का (आंशिक) रूप तो देखें :—

पच पऽम केरु, पेऽरु सम्यालु, तेस्सेरी बेरखी आई गई।
पंच पऽम गुरे, पुछने लग्गे, वेरखी कुण कुण लोड़े भई।
नब निज भोजन बेरखी लग्गे, गेंडे रो मांस बि लोड़े भई।
हत्थ धनख ट्लेई धिनु बाणे, अरजन गेंडे रि तोपणी भई।
डुमसरु डल्ले सर्वतलाई तेडी गेंडो दुडकतो लावे भई।
पेल्लू बाण तेनि अर्जने सट्ठ गेंडों सूरग लोके भई।
दूजू बाण तेनि अर्जुने सट्ठ गेंडो प्याल लोके भाई।
तीजू बाण तेनि अर्जने सट्ठ गेंडो मांस लोके भई।
चोथड़ू बाण तेणि अर्जने सट्ठ गेंडे रे मझ दोग्गे भई।
गेंडो डुल्लो धरतली हल्ली हल्लने लग्गी हिनी धार भई।
अम्मा अम्मा सुन मेरी अम्मा, धरतली भुचल केरे भई।
अक्क त मारो तेरी सेते रो गेंडो, दूजे नैनाल जाटला भई।

हत्थे धनख टलेइ घिन् त बाणें बालके गेंडे री तोपा भई।
डुमसरु डले सर्वतलाई तेड़ी गेंडो डुलारो लावे भई।
जेनी घेन्ते मेरो गेंडो मारो तेस्सेरी मा रङ भोली भई।
डुलत बाण तेनी बालके छण्डू धरतली डुलने लाइ भई।
ठमक बाण तेनी अरजने छण्डू धरती थमती आई।
अगन बाण तेनी बालके छण्डू धरतली जलती लाइ भइ।
इन्द्रबाण तेनी अरजने छण्डू धरती हिश्री आई भई।
कालबाण तेनी बालकें छण्डू अर्जन मंज दोग्गे भई।
डुल्लोरो घेन्ते धरतली हल्ली हलने लग्गी हिनी धार भई।
माउए, माउए ! सुन मेरी माउए ! सो धेन्त मेरो चुकेवे भई।
कुण घिनु नवें, कुण आए ड्लवे मरते कोन सम्मालो।
नव न जेनी, अव ड्लवं न ज़ेनी, मेरतां कउता पुकारी।
भलो न कीं तीं बालक पुट्ला मावड़ी रण्ड विशाली।
डररोरे बालके छाल सम्हाली पुज्जी जोउ प्याल लोके।
नाना नाना, सुन मेरे नाना ! दख जेरी अमृतानी देनी भई।
शठ शठ नैगन् तेरी शफड़ी ट्लुटेलो, निथि देलो कलि नाग भई।
डरोरे बासके अमृतानी दित्ती, बालक घरे जोगी आवे भई।
डुमसरु डल्ले सर्वतलाई तेड़ी बब्ब डुल्लोरो लावे भई।
अमृतानी दित्ती बालक पुट्ले, बब्ब पुट्ल गले पेट लग्गे भई।
नव निज भोजन बेरखी लेउए, गेंडे रो मांस कि लेउए भई।
एजली बोली केलुअए बन्दे, दे सइया बेकुण्ठबास भई।

पर, तीसरी एंजली में एक और ही बात देखने को मिलती है। इस एंजली के हमें तीन रूप देखने को मिलते हैं। एक ठेठ डोगरी का रूप है। दूसरा तथा तीसरा भद्रवाही रूप। एंजली का सम्बन्ध पांडवों के महाप्रयाण से है, जिसकी भौगोलिकता पहाड़ी (हिमालय) ही है। एंजली के सभी रूपों को देखने से यह बात साफ हो जाती है कि जब लोकगीत एक जगह से दूसरी जगह की ओर सरकने लगते हैं, तो उनमें परिवर्तन आने लगता है। इस परिवर्तन के निम्न कारण हो सकते हैं :—

(i) लोकमानस की पुनर्निर्माण की वृत्ति।

(ii) लोकमानस की ग्रहण करने की वृत्ति।

(iii) लोकमानस की संक्षिप्तीकरण और सरलीकरण की वृत्ति ।

अब ज़रा इस एंजली का रूप तो देखें । एंजली का मूल डोगरी रूप इलाका कैलाड़ भद्रवाह से संकलित किया गया है । एंजली में पांडवों के महाप्रयाण का रूप सीधे और सच्चे लोकरूप में वर्णित हुआ है :

पापी महीने स्यूंदड़ी फुल्ली पांडव सुर्गे सदाए जी ।
सुत्ते दे राजे जो कन्या सुखने आई, राजा आई रुत हो सुहावनी जी।
रुत हो सुहावनी राजा आई आई धारें दी बहार जी ।
कत्थू त करेरी राजा फुल्ली रेइयां आई गेइ धारें दी बहार जी।
फेरी हो फेरी राजा जदिष्ट्रा, चंढनी महापंथ धार जी !
सूइयां जो जैसी तीखनी राजा, खण्डे जैसी धार जी !
पवने हो जैसी राजा पतली फुल्ले हो जैसा भार जी !
फेरी ओ फेरी राजा जदिष्ट्रा, ढठी तेरी द्रोपदी जी !
ढठ्ठन दे ओ ढठ्ठन दे ओ भई मेरे, झूठी सेज बछाई जी !
ढाई गज कापड़ा राजा चीरदा रानी दी सूरत बनाई जी !
चन्दन रुख राजा बड्ढदा छोड़दा गतया मलाई जी ।
फेरी ओ फेरी राजा जदिष्ट्रा ढठ्ठी तेरी कुन्तला माई जी !
ढठ्ठन दे ओ ढठ्ठन दे भाई मेरे झूठे मम्मू पलाए जी !
ढाई गज कपड़ा राजा चीरदा रानी दी सूरत वनाई जी !
चन्दन रुख राजा बड्ढदा छोड़दा गतया मलाई जी !
फेरी हो फेरी राजा जदिष्ट्रा ढट्ठा तेरा नकल भाई जी !
ढट्ठन दे ओ ढट्ठन दे भाई मेरे झूठी गमा चराई जी !
ढाई गज कपड़ा राजा चीरदा भाई दी सूरत बनाई जी !
चन्दन दा रुख राजा ब्ढदा छोड़दा गतया मलाई जी !

एंजली में शेष पांडवों—भीम, अर्जुन सहदेव इत्यादि की मृत्यु का कारण इस प्रकार बतलाते हैं : —

भीम—झूठे गुर्ज चलाए जी !
अरजुन—झूठे वाण चलाए जी !
सहदेव—झूठे सगण सुनाए जी !

परन्तु एंजली में मृत्यु का क्रम सहदेव, अर्जुन और फिर भीम का है। इसके पश्चात एंजली इस प्रकार वर्णित हुई है :

हत्थ पिच्छे फेरे राजे जदिष्ट्रे, चढ़ी गेआ महापंथ धार जी !
हत्थ पिच्छे फेरे राजे जदिष्ट्रे, चढ़ी गेआ सुर्ग लोक जी !
दस्सेआं तूं दस्सेआं परमातमा, धर्मे रा कुण्ड तूं दस्सेआं जी !
धरमे रा कुण्ड दिक्खे राजे, न्हाई धोई पाप नवारे जी !
दस्सेआं तूं दस्सेआं परमातमा, नरके रा कुण्ड तूं दस्सेआं जी !
नरके रा कुण्ड दिक्खे जुष्ठले, राम राम पुकारे जी।
छोड़यां छोड़यां राजा जुष्ठला देना हत्थ तूं अपना छोड़ जी।
कड्ढेआं तूं कड्ढेआं राजा जुष्ठला सत्त ुल अपने कढेआं जी !
छोड़ेआं त छोड़ेआं तूं राजा जुष्ठला, देना पांव तूं अपना छोड़ जी !
देना पांव छोड़यां राजा जदिष्ट्रा, सत्त कुल निकली गे जी !
एंजली बोली पंजे भाइए जी, दे सइया बेकुण्ठ वास जी !

इस एंजली के दो अन्य रूप बहुत छोटे हैं।

—o—

संस्मरण—सन् बयालीस के

—डा० रमेशकुमार शर्मा

उन दिनों मैं आगरा कालेज में पढ़ता था। 9 अगस्त, 1942 को आंदोलन आरम्भ होते ही हम लोगों ने हड़ताल आदि के कार्य आरम्भ कर दिये। तोड़फोड़ भी हुई। मुस्लिम लीग तथा कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों ने आंदोलन का विरोध किया। फिर भी दिसम्बर 1942 तक आगरा कालेज में हड़ताल रही जोकि सम्भवत: देश में सबसे लम्बी हड़ताल थी। आगरा कालेज की हड़ताल को जारी रखना एक प्रतिष्ठा का प्रश्न बन गया था और जब तक मेरे पूज्य पिता पं० श्रीराम शर्मा तथा उनके दल के सदस्य 7 दिसम्बर, 1942 को गिरफ्तार हुए, तब तक यह हड़ताल चलती रही थी। हड़ताल के दूसरे- तीसरे दिन विद्यार्थियों का एक बड़ा जलूस निकला। आगरे के हरिपर्वत थाने के पास पुलिस ने उसे रोक लिया और राजपूत कालेज की ओर जाने न दिया। ज़ोर का लाठीचार्ज हुआ। मैं तथा श्री बिसारिया आगे थे। इस कारण लाठियों से पिट कर गिर पड़े। उन दिनों अस्पताल में आंदोलनकारियों की देखभाल नहीं की जाती थी। अत: मांओं तथा बहिनों ने हल्दी- चूना लगा कर मुझे खाट पर डाल दिया।

अगले दिन प्रात: कालेज खुलने के समय हम लोग विद्यालय के मुख्य द्वार पर एकत्र हुए। मेरा शरीर टूट रहा था, परन्तु कार्य आवश्यक था। साम्यवादियों तथा मुस्लिमलीगियों ने यह निश्चय किया था कि वे हड़ताल तुड़वा कर रहेंगे। हमने धरना देने का निश्चय किया था। कालेज के दोनों द्वारों पर हम लोग लेट गये। मेरी कक्षा में आगरा मुस्लिम लीग के नेता श्री अख्तर आदिल का छोटा बेटा अकबर आदिल पढ़ता था। अपने बाप की भांति वह भी बहुत ही स्थूलकाय था। उसका वजन भी कम- से- कम ढाई मन रहा होगा। कामरेडों (कम्यूनिस्टों) ने उसका प्रयोग किया, जिससे अगर गड़बड़ हो तो सांप्रदायिक झगड़ा फैल जाये और सरकार को दमन का अवसर मिल जाये। हमारी ही कक्षा में सादाबाद के नवाब का लड़का अशरफ अली

भी पढ़ता था; वह मेरा मित्र था। खुलकर आंदोलन में उसने कभी भाग नहीं लिया था और न ही वह मुस्लिमलीग के विरुद्ध कुछ कहता था, परन्तु उसकी सहानुभूति हम लोगों के साथ थी। हो सकता है, परिवार के लोग उसे अनुशासन में रखते हों। उस दिन अशरफ ने मेरे पास सन्देश भेजा कि यदि हम लोगों ने कालिज के द्वार पर लेट कर अकबर को कालिज जाने से रोका तो वह मय साइकिल के लेटे हुए लड़कों के ऊपर से कालिज नें घुस जायेगा। अकबर की आदत थी कि चाहे कोई छात्र कक्षा में न जाए पर, वह अकेला कक्षा में पूरे पीरीयड बैठ कर आंदोलन के प्रति अपनी घृणा व्यक्त करता था। मुसलमान होने के नाते अकबर और अशरफ के पारिवारिक सम्बन्ध थे और अशरफ ने यह सूचना लेकर चुपचाप हमें बता दी थी। अकबर की नीयत थी कि वह अपनी साइकिल मेरे ऊपर से निकालेगा।

पौने दस बजे हम लोग दरवाजों पर लेट गये। पुलिस हिन्दू-मुस्लिम झगड़े की आशा में एकत्र थी कि लड़ाई हो, दमन-चक्र चले। अशरफ के साथ अकबर भी आया और न जाने क्या कह कर अशरफ ने अकबर को दूसरे द्वार की ओर चलने के लिये पटा लिया। मैं और मेरे साथी अपने द्वार पर लेटे रहे। दूसरे द्वार पर जो लोग लेटे थे, उनके ऊपर से अकबर साइकल पर चढ़कर निकल गया। एक स्वयंसेवक के पेट में भयंकर चोटें आयीं और एक की आंख पैंडल की चोट से लगभग फूट गई। जैसा कि हमने निश्चय किया था। स्वयंसेवकों ने अकबर के इस कृत्य की और हिन्दुओं को दी जाने वाली फोश गालियों की उपेक्षा की। सबने संयम से काम लिया। उस दिन और उसके बाद से अकबर जैसे लीगीयों और दस- पन्द्रह कम्यूनिस्टों के अतिरिक्त सारे कालेज में कोई छात्र कक्षाओं में नहीं आता था। कालेज के पांच शिक्षक सरकार के एजेण्ट थे, परन्तु उनका कोई प्रभाव नहीं हुआ। बाद में मुझे बताया गया कि अशरफ ने अकबर को किसी प्रकार इस बात के लिये राजी कर लिया था कि वह मेरे ऊपर से साइकिल नहीं निकाले। अशरफ को यह मालूम था कि मैं पहले से ही घायल हूं। आगे चलकर कुंवर अशरफअली उत्तरप्रदेश के कांग्रेस मन्त्रि- मण्डल में मन्त्री भी रहे।

तीन- चार दिन बाद ताऊ जी पं० हरिशंकर शर्मा के यहां से एक आवश्यक सन्देश आया और जब मैं वहां पहुंचा तो उनके मकान की ऊपरी मंजिल के एक कमरे में एक सज्जन से मिलने मुझे भेज दिया गया। खाकी वर्दी पहने सफाचट मूँछों वाले उन सज्जन को अनायास मैं पहचान न सका। क्षण भर बाद समझ पाया कि पिताजी (पं० श्रीराम शर्मा) ने अपनी फर्राटेदार मूँछें साफ करके वेश बदला है। उन्हें किसी ने भी कभी बिना मूँछों नहीं देखा था और इतना अधिक परिवर्तन उनमें

आ गया था कि अगले चार महीनों में अनेक बार पुलिस वालों के साथ बात करने पर भी वे उन्हें पहिचान न सके।

बम्बई में काँग्रेस की मीटिंग के तुरन्त बाद सारे नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया था, पिता जी वेश बदल कर बच निकले थे। उन्हें युक्त-प्रांत तथा मध्य-प्रदेश के आंदोलन का संचालक बनाया गया था। आगरा आकर उन्होंने अपने दल का संगठन किया और ध्वंसात्मक आंदोलन आरम्भ हो गया। उनके दल में लगभग बीस लोग थे, जिनमें प्रमुख श्री बसन्तलाल झा, श्री गोपीनाथ शर्मा, प्रो० रामशरणसिंह, श्री विजयशरणसिंह चौधरी, श्री राधेमोहन अग्रवाल, श्री पीतांबर पन्त (आगे चल कर भारत सरकार के योजना आयोग के सदस्य), श्री मनोहरलाल इत्यादि। डा० केसकर (बाद में भारत- सरकार के विदेश विभाग के मन्त्री) भी उनके साथ थे। मध्यप्रदेश में डा० निरंजनसिंह जी ने ध्वंसात्मक आंदोलन का संगठन किया था। रेल की पटरियां उड़ाने, सरकारी दफ्तरों तथा स्टेशनों को जलाने के साथ- साथ कुछ अन्य ध्वंसात्मक कार्यों का कार्यक्रम चलता रहा, जिनमें व्यर्थ जनहानि नहीं होने दी गई।

पिताजी के दल ने अनेक स्थानों पर अड्डे बनाये और अन्त में आगरा विश्वविद्यालय के एक आलू और प्याज सुखाने की फैक्टरी में उनका दल रहने लगा। हम लोग बलका बस्ती में रहते हैं। इसलिये अपने घर से पिताजी के पास मैं रोज जाता था। सामान लाना ले जाना, कभी- कभी उनके लिए भोजन भी ले जाना होता था। मैं सारे शहर का चक्कर काट कर जाता था और चार महीनों में पुलिस के रोज पीछा करने पर भी, किसी भी दिन पुलिस मेरे कारण दल के निवास स्थान तक नहीं पहुंच सकी। पिता जी के बड़े भाई स्व० पं० बालाप्रसाद शर्मा, उस कारखाने में मुनीम बनकर सामने ही बने रहते थे और लोगों को सचेत करते रहते थे। डाइनामाइट बम, बारूद, पिस्तौल इत्यादि हथियारों को रखने का एक विचित्र प्रबन्ध किया था। कारखाने में दल के सदस्यों के कमरों के निकट ही एक गोदाम पर इंपीरियल बैंक की सील लगी हुई थी, कुछ माल गिरवी रखकर कर्ज लिया गया था। इस कारण उस गोदाम में सारे हथियार इत्यादि रहते थे। सीलबन्द ताला ज्यों- का- त्यों लगा रहता था। इसी कारण जब सब लोग गिरफ्तार हुए तो तलाशी में पुलिस ने बैंक की सील को नहीं तोड़ा और अधिकांश सामान साथ में नहीं पकड़ा गया।

1942 के आंदोलन के विस्तृत संस्मरण पिता जी (स्व० श्रीराम शर्मा) ने अपनी पुस्तक 'संघर्ष और समीक्षा' में लिखे हैं, और वे लोक- विदित हैं। मैं उनके

विस्तार में नहीं जाऊंगा। यहां मैं उन्हीं बातों का जिक्र करूंगा, जिनका सम्बन्ध मुझसे है। १५ वर्ष की आयु में, आंदोलन में सक्रिय भाग लेने वाला मैं देश का सबसे छोटा लड़का था। सिन्ध के श्री हेमू कलानी उन दिनों १६ वर्ष की आयु के थे—और उन्हें अंग्रेज सरकार की विशेष अदालत ने फांसी की सजा दे दी थी। मैं जीवित हूँ और स्वतन्त्रता के आनन्द भोग रहा हूं। जनक्रांतियों में प्रायः यही होता है। शहीद प्राण दे देते हैं, जो बच जाते हैं वे सुख भोगते हैं। कुछ पिछलग्गू लोग शहीदों की जीवनी लिख लिख कर जीवन-यापन करते हैं।

खैर, पिताजी के दल के साथ कार्य करने के अतिरिक्त आगरा कालिज की हड़ताल भी चलती रही और पढ़ना लिखना ठप्प हो गया। पुलिस को पता चल गया था कि पिताजी आंदोलन का संचालन कर रहे हैं। इस कारण बल्का बस्ती में हमारे मकान पर २४ घण्टे निगरानी रहती थी। फिर भी हमारा आना जाना जारी रहता था।

दो घटनाओं का विस्मरण मैं नहीं कर पाता। भंगी के वेश में झाड़ू-डलिया लेकर पिता जी आगरा किले में गये थे। फौज का एक भारतीय कैप्टन हमसे मिल गया था—मेगजीन को उड़ाने की योजना थी। देखभाल करने के बाद, एक दूसरे अफसर ने इसके विरुद्ध राय दी। वैसे वह साथ देने को तैयार था। उसने बताया कि इतना गोला बारूद युद्ध-प्रयत्नों के लिए उसमें जमा है कि उसे उड़ाने पर आधा किला, सम्भवतः ताजमहल और शहर का एक तिहाई भाग नष्ट हो जायेगा। योजना त्याग दी गयी। इसी प्रकार एक रात के दो बजे अमरीकन फौज (जिसका सबसे बड़ा अड्डा आगरा में था) का एक यहूदी अफसर पिताजी से मिलने आया था, उसके साथ जो बात हुई थी वह अन्तर्राष्ट्रीय जासूसी की घटना होती, परन्तु उसके कुछ ही दिनों बाद पिता जी गिरफ्तार हो गए।

श्री लक्ष्मीनारायण पालीवाल दल की तरफ से दिल्ली भेजे गए, बमों के खोल लाने के लिए। लौटते समय वे राजामण्डी स्टेशन पर पकड़ लिए गये और पुलिस के एक चांटे से सारा भेद खोल दिया। 7 दिसम्बर, 1942 को संध्या के समय पुलिस ने हमारा घर घेर लिया। सारा सामान, काग़ज़ पत्र, पुस्तकें निकाल- निकाल कर आंगन तथा सड़क पर फेंक दिये। रात के दो बजे तक तलाशी चलती रही। सभी समान नष्ट भ्रष्ट करके पुलिस चल दी। घर में मेरी बड़ी बहिन (कु० कमला शर्मा) दो छोटी बहिनें (शारदा तथा सरोजिनी) मां तथा तीन छोटे भाई (राकेश,

दिनेश तथा व्रजेश) रह गये। लोहा मण्डी थाने के एक कोने में मुझे बिठाया गया। चारों ओर पुलिस अफसर थे। उन्होंने अपनी-अपनी टार्चों की रोशनी मेरे मुंह पर डाली और प्रश्न आरम्भ किये। पिताजी ने पुलिस इण्टेरोगेशन के बारे में मुझे पहले ही सचेत कर दिया था। मुझे सिखाया गया था कि जिन बातों का पुलिस को पता हो या पता लगने की सम्भावना हो, उन्हें स्वीकार करना चाहिए क्योंकि झूठ बोलने से शक होता है। मैंने पुलिस को जो उत्तर दिये, उनका सार था, "मैं पढ़ता हूं, मुझे कुछ नहीं मालूम। पिताजी फरार हैं, शायद आंदोलन में काम कर रहे हों—हमें उनकी कोई खबर नहीं है। हमारी आर्थिक दशा भी खराब है, गांव से कुछ अन्न इत्यादि आ जाता है और बैंक में जो है (मां के नाम) उससे कार्य चलता है।"

तलाशी में कुछ मिला नहीं था। इसलिये दूसरे दिन प्रातः दो-चार चांटे मार कर मुझे भगा दिया गया। घर आकर दल की खबर लेने गया, तो वहां पुलिस का घेरा देखा। तब मालूम हुआ कि सारे लोग गिरफ्तार हो गये हैं। पिता जी, ताऊ जी (पं० बालाप्रसाद शर्मा तथा पं० हरिशंकर शर्मा) और मेरे एक चाचा (जगदीश शर्मा) सभी पकड़े गए हैं। गिरफ्तारी से पूर्व पिताजी दस दिनों तक ज्वर-पीड़ित थे, अन्यथा खिड़की के साथ लगे पेड़ के सहारे भाग जाते। गिरफ्तारी के समय पिताजी को पुलिस ने बहुत मारा था—उनका एक कान फूट गया था।

एक रोचक बात यह हुई कि पिता जी की गिरफ्तारी से गेरुआ वस्त्रधारी साधु लोग बहुत प्रसन्न हुए। एक ध्वंसात्मक कार्य करने जाते समय दल के सदस्यों ने साधुओं का वेश बनाया था (वे कपड़े गिरफ्तारी के समय पकड़े भी गये थे)। इस कारण तब से पुलिस को जो साधु मिल जाता था—उसे पकड़ कर खूब पीटा जाता था। पूछा जाता था, "श्रीराम शर्मा कहां छुपा हुआ है?" सारे साधु उन्हें गालियां देते थे। कहते थे कि "न जाने यह बदमाश कौन है, जिसके कारण साधुओं का जीना हराम हो गया है।"

पिता जी की गिरफ्तारी हो जाने पर 'बाबा' लोगों ने चैन की सांस ली। गिरफ्तारी के समय दल के सदस्यों के पास कोई सामान बरामद नहीं हुआ। केवल आंदोलन संचालन के लिए धनराशि तथा 'आज़ाद हिन्दोस्तान' नामक गैरकानूनी साइक्लोस्टाइल्ड अखबार की कुछ प्रतियां मिली थीं। उस अखबार को पिता जी चलाते थे—उसमें आंदोलन के कार्यों की खबरें भी निकलती थीं।

उसके तीन-चार दिन बाद मैं वेश बदलकर आलू-फैक्टरी में गया और सारा

गोला- बारूद उठा कर घर ले आया। दो सौ के लगभग 'डाइनामाइट स्टिक' रेल-पटड़ियां उखाड़ने के औज़ार, हथियार तथा लगभग बास सेर बारूद थी। खुले आम बिस्तर में बांध कर, इक्के में रख कर घर ले आया। फिर हमने एक नया दल संगठित किया। उसमें भूदेव पालीवाल (आयु 20 वर्ष), शीतलप्रसाद (26), सूरजभान (30), बंगालीमल जैन (30) आदि थे। साथ में मेरे दो मित्र—श्रीचन्द शर्मा तथा रामकृष्ण शर्मा (जो आजकल माडर्न स्कूल दिल्ली में पढ़ाते हैं) भी थे। किन्तु, उनका सम्पर्क मैंने दल के अन्य सदस्यों से नहीं कराया था। वास्तव में, हम तीन लोग अलग से काम करते थे। इस दल की सहायता आगरा कालेज के रसायन- विभाग के प्रोफेसर श्री जंगबहादुर झा (श्री वसन्तलाल झा और डा० श्री एस० के० झा के पूज्य पिता) करते थे। प्रोफेसर झा ने हमें घर में बम बनाना सिखाया। उनके घर, उनकी अपनी प्रयोगशाला थी, उसमें बम बना कर वे हमें देते थे—और हम लोग उनका प्रयोग करते थे। आगरा- जेल की दीवार, राजा मण्डी स्टेशन तथा एतमादपुर के पास झरना पुल पर हमने बम लगाये। राजा मण्डी वाला बम फटा नहीं।

मुझे याद है कि फेंकने पर फटने वाला बम तथा टाइम बम दोनों प्रकार के बम प्रोफेसर झा (जिन्हें मैं ताऊ जो कहता था) हम से बनवाते थे और बना कर भी देते थे। झा साहब तरल- स्वर्ण (चूड़ी पर लगाने का) पर शोधकार्य कर रहे थे। इस कारण घर पर उन्होंने प्रयोगशाला बनाई थी। उसी में बम बनाये जाते थे (बहुधा चीनी के 'जार' का प्रयोग करते थे, जिनमें चूड़ीदार ढकना होता है)।

एक बार जेल की दीवार की नाली में दो बम लगाने के लिए मैं चला। दोनों हाथों में एक-एक बम था। धक्का लगते ही उनके फट जाने की आशंका थी, घर के बने थे। संध्या का समय था, मैंने चादर कन्धों पर डाली, बगल में बम लगाए अपने दोनों ओर राम (रामकृष्ण शर्मा) तथा सिरिया (श्रीचन्द्र शर्मा) को किया और चल दिया। राजा मण्डी बाज़ार पहुंचा, तो सामने से एक बारात आ रही थी। उसकी भीड़भाड़ में फंस गया। धक्कम- धक्का होने लगा। हमारे तीनों के चेहरे पीले पड़ गए, दिल की धड़कन रेल के इंजिन की तरह लगने लगी। राम तथा सिरिया मेरे चारों ओर घूम- घूम कर मुझे धक्कों से बचा रहे थे—किसी भी क्षण बमों के फटने का भय था। चीनी के इमर्तबान चिकने होते हैं। हाथों में पसीना आने के कारण फिसलने लगे। वे दस मिनट मुझे आज भी याद हैं। जब उन्हें पकड़े रहना असम्भव हो गया, तो मैं किसी प्रकार पेशाब करने के बहाने नाली पर बैठ गया। बमों को गोद में रखा। दोनों मित्र जैसे भीड़ से बचाने के लिए मेरे पीछे खड़े मेरी रक्षा कर रहे थे। लोग

'वेशर्म लड़के' को निकट ही बैठा देख कर, भौहें सिकोड़ कर निकल जाते थे। बरात निकल जाने पर हमने चैन की सांस ली। रात के आठ बजे बम फेंके—केवल एक फटा।

ताऊ जी की गिरफ्तारी से गांव की खेती बरबाद हो गई थी। अन्न के लिये भी तरसना पड़ता था। पुलिस ने इतनी कड़ी निगरानी लगाई थी कि लोग हमारे घर आने से भी घबराते थे। पिता जी के घनिष्ठ मित्र तो हमारी नमस्ते भी नहीं स्वीकारते थे। सब कहते थे कि शर्मा जी को फांसी होगी। मेरे दो भाई बीमार हुए और डाक्टरी सहायता के अभाव में, राकेश तथा दिनेश, चल बसे। तीसरा, ब्रजेश भूख तथा दुर्बलता से बीमार रहने लगा। बाद को उसकी मृत्यु भी हमारे जेल से छूटने के बाद ही हो गई। फिर भी, आंदोलन का कार्य जारी रहा। 26 जनवरी, 1943 को मरते हुए आंदोलन को पुनर्जीवित करने के लिए मेरी बड़ी बहिन (कु० कमला शर्मा), श्री जगनप्रसाद रावत की पत्नी तथा पुत्री (सरोज) ने जुलूस निकाला और गिरफ्तार हो गयीं। बड़ी बहन को सात वर्ष की सजा हुई। वे आगरा तथा लखनऊ की जेल में श्रीमती सुचेता कृपलानी के साथ रहीं।

इसी प्रकार फाकेमस्ती में आँदोलन का कार्य चलता रहा। जुलाई, 1943 तक आते-आते हालत खराब होने लगी। भूदेव पालीवाल की हरकतें संदेहास्पद होने लगीं। उसे खाने-पीने का शौक था। 9 अगस्त, 1943 को आंदोलन की बरसी मनाने का निर्णय किया गया। एक जलूस निकालने तथा तीन बम-कांड करने का प्रयत्न था। भूदेव की हरकतों पर शक होने के कारण मैंने अपने घर से हथियार इत्यादि हटा दिये थे। बारूद को एक अन्धे कूएं में डाल आया था।

26 जुलाई, 1943 की शाम को दल की एक मीटिंग होनी थी। प्रातः जब मैं भोजन कर रहा था, सादा वेश में पुलिस के तीन आदमी आये और मुझे पकड़ कर ले गये। बाद को मालूम हुआ कि उसी दिन अन्य सब लोग भी पकड़ लिये गये थे। आज तक हमें नहीं मालूम कि किसने पुलिस को सूचना दी। आगे की घटनाओं से अनुमान लगा कि सम्भवतः भूदेव ने लापरवाही के बड़बोलेपन में किसी के सामने भेद खोल दिया होगा। अस्तु।

सी० आई० डी० के डी० एस० पी० चक्रवर्ती तथा इन्पेक्टर रामप्रसाद पिताजी के मुकदमे को चला रहे थे। आगरा षड्यन्त्र केस (Pt. Shri Ram Sharma and Other V/s King Emperer) चलाना था तथा उसे

मध्य प्रदेश के ठाकुर निरंजनसिंह वाले केस से जोड़ना था। 7 दिसम्बर, 1942 को निर्दोष समझ कर मुझे छोड़ दिया था—इस कारण उन्हें झुंझलाहट थी। मुझे आगरा कोतवाली की हवालात में रखा गया और पूछताछ आरम्भ हुई। भूदेव कोतवाली में जनानी हवालात में रखा गया था। उसने दो दिन बाद सारा भेद खोल दिया। इकबालिया बयान पर हस्ताक्षर कर दिये। मौज से ही कोतवाली में रहने लगा। सिनेमा देखता, खाता-पीता, घूमता किन्तु सर्वदा पुलिस की निगरानी में। शीतल, सूरजभान, बंगालीमल ने भी काफी मारपीट के बाद इकबालिया बयान दे दिया। आगे चल कर सेशन्स-कोर्ट में इन तीनों ने अपना बयान बदल दिया। परन्तु उन्हें सात-सात वर्ष की कठिन कैद की सजा हो गयी थी। भूदेव सेशन्स-कोर्ट में अन्त तक सरकारी गवाह रहा। मजे की बात यह है कि स्वतन्त्रता के बाद वे तीनों भूखों मरे। उन्होंने कुछ नहीं लिया, न उन्हें मिला और भूदेव (Political Sufferer) का प्रमाणपत्र लेकर सरकारी सहायता पर विदेश गया और मौज कर रहा है। खैर।

पुलिस मुझसे निम्नलिखित बातें चाहती थी—

1. हथियार इत्यादि जहां छिपाए हैं—उनको बरामद करना।

2. इकबाली बयान पर हस्ताक्षर करवाना, जिसमें यह कहा गया हो कि मेरे पिताजी और ठा० निरंजनसिंह आपस में मिलते थे और आंदोलन-कार्य चलाते थे, जिससे मध्य प्रदेश तथा युक्त प्रांत दोनों के दलों का एक भारतव्यापी केस चलाया जा सके।

3. मजिस्ट्रेट के सामने, भूदेव के समान, इकबालिया बयान पर हस्ताक्षर।

प्रारम्भ में मुझे लोभ दिखाया गया, फिर भय। पुलिस की गलती यह हो गयी कि उसने मुझे कहा कि पिताजी को फांसी अवश्य लगेगी। यदि अपनी जान बचाना चाहता हूँ तो उनका कहा मान लूं। यदि उन्होंने यह कहा होता कि उनका कहा मानने से पिताजी की जान बच सकती है तो शायद मेरा साहस घट जाता। मुझे कोतवाली हवालात में 59 (उनसठ) दिन रखा गया। आरम्भ के एक सप्ताह को छोड़ कर जो यातनायें दी गयीं वे आज भी याद हैं। "संघर्ष और समीक्षा" में भी प्रकाशित हैं। बाद में गांधी जी ने कहा था कि इस प्रकार की यातना उस आयु में, उनकी याद में किसी बालक को नहीं दी गई। मैं नीचे कुछ उदाहरण दे रहा हूँ :

1. पचास दिनों तक, दोनों समय, मुझे केवल आधा पाव भुना चना और

एक छटांक गुड़ खाने को दिया गया।

2. आगरा की जुलाई- अगस्त की गर्मी में स्नान एक बार भी नहीं। दिन रात दो सौ वाट का बल्ब जला रहता था। हवालात के नंगे फर्श पर सोना।

3. बर्फ की सिल्लियों पर सुलाना, उलटा लटका देना, नाखूनों में सूई चुभोना। डण्डों घूसों से लगातार मारना, जब तक कि मूर्छा न आ जाये।

4. खाट से बांध कर उलटा लटका देना। ज़मीन पर गिरा कर पैरों के तलवों पर डण्डे मारना। गाली- गलौज तो सामान्य बात थी। कथा लम्बी है और; विस्तार का अवकाश नहीं है। पचास दिनों के बाद मैं हमेशा लगभग अर्ध- मूर्छित अवस्था में रहता था। दोनों कलाइयां, दाँयें कूल्हे का जोड़ तथा दोनों टखने लगभग टूट चुके थे। ज्वर रहने लगा था। खांसने में थूकने के समय रक्त आता था। केवल एक जिद सर्वथा दिमाग में घूमती रहती थी—पुलिस वालों की बात नहीं माननी है। एक मानसिक कुहासे में मैं जीवित रहता था। पचास- इक्यावन दिनों बाद मनोबल टूट-सा गया। एक फूटे कुल्हड़ के टुकड़े से हवालात के कोने में तारीखें लिखता जाता था, जिससे समय का अनुमान रहे। वहां एक कोने में लिख दिया था, "मैं पं० श्रीराम शर्मा का पुत्र रमेश हूँ। 26 जुलाई को यहां आया हूं। जिस दिन तारीखें समाप्त हो जायें या तो मर गया हूँ या जेल चला गया हूं। मेरे बाद आने वाला कैदी अगर मेरे पिता से जेल में मिले तो उन्हें बता दे कि मैंने उनके रक्त के सम्मान की रक्षा की है।" आश्चर्य की बात है कि मेरे जेल से चले जाने के बाद एक सज्जन ने यह सन्देश पिताजी को आगरा सैंट्रल जेल में दिया था। परन्तु पुलिस वालों ने यह अफवाह फैला दी थी कि मैं सरकारी गवाह बन गया हूं।

5. इक्यावन या बावनवें दिन जब मेरी हालत बहुत खराब हो गई तो पुलिस ने तय किया कि मूर्छित-सी अवस्था में मुझ से बयान पर हस्ताक्षर करा लिए जायें। यदि भगवान की कृपा न हुई होती तो शायद मैं दूसरे दिन हस्ताक्षर भी कर देता—क्योंकि शरीर तथा मन का बल टूट चुका था। आज आराम की ज़िन्दगी बसर करते हुए यह सोचता हूं कि मैंने कैसे वे कष्ट सहे? आज यदि वैसा ही अवसर आए तो शायद मैं टूट जाऊंगा—नहीं सह सकूंगा वैसी यन्त्रणायें। हां, इतना लाभ मुझे उसे यातना भोगने से हुआ है कि कष्ट भोगने के कारण मैं औरों के दुःख समझ सकता हूं। दूसरों के दुख मुझसे सहे नहीं जाते। यहाँ तक कि सिनेमा- उपन्यास की करुण- घटनायें भी मुझसे सहन नहीं होती। इसलिये सिनेमा- नाटक नहीं देखता हूँ।

हुआ यह कि रात के पहरे पर एक सिपाही आया। मैं हवालात के सलाखों वाले दरवाजे के पास गर्मी के कारण बेहोश-सा पड़ा था। वह सिपाही पिताजी के पास ड्यूटी पर रहा था—जो वे पन्त की सरकार में ग्रामसुधार अफसर थे। ठा० फूलसिंह नामक उस सामान्य सिपाही की मुखमुद्रा आज भी मुझे याद है। नुकीली लम्बी मूंछें तेज आंखें, सफेद दांत, गोल सांवला चेहरा, लंगड़े आम के रंग तथा आकार का न जाने क्या याद दिलाता था। उसने कहा था, "बेटा रमेश! मेरी बात ध्यान से सुनो। उसने मेरी ओर पीठ करके रात के दो बजे जो बातें मुझसे कहीं, उनसे अचानक पीड़ा-भ्रम का कुहासा हट गया। मानो मेरा नैतिक पुनर्जन्म हो गया। उसने कहा था—"तुम्हारे बाप का नाम आज इज्जत से लेते हैं—तुमने भूदेव की तरह इकबालिया बयान दे दिया तो 'रमेश का बाप' कह कर लोग उन पर थूकेंगे। मुझ पर उनके बड़े अहसान हैं, वे देवता हैं, उनकी इज्जत तुम्हारे हाथ है।" मैंने रोक कर उससे कहा था कि—"अब मुझ से सहा नहीं जाता, क्या करूं?"

उसने कहा कि पुलिस तुम्हें हवालात में मरने नहीं देगी : तुम भूख हड़ताल कर दो, दो चार दिन में हालत खराब होने पर जेल भेज देगी। वहां यह मारपीट नहीं होगी। अन्य उपदेश भी रामायण की पंक्तियों के साथ उसने मुझे दिए। विस्तार में नहीं जाऊंगा। फल यह हुआ कि दूसरे दिन मैं हस्ताक्षर करने से अपने को रोक सका। मानो नया बल मुझमें आ गया था। दिमाग साफ हो चुका था। खाना-पीना मैंने बन्द कर दिया और थानेदार से यह कह दिया कि जबतक जेल नहीं भेजा जाऊंगा, मैं उनका चना-पानी ग्रहण नहीं करूंगा। शाम को बढ़िया भोजन, अंगूर इत्यादि लाये गए। ठा० फूलसिंह ने मुझे सचेत कर दिया था। इसलिए भयंकर भूख तथा इच्छा होते हुए भी मैंने नहीं खाया।

५३ वें दिन जब अर्धमृत अवस्था हो गयी तो हथकड़ी लगा कर इक्के में डाल कर मुझे जिला जेल भेज दिया गया। वहां कोई मारपीट तो नहीं हुई, परन्तु कुछ दिन फांसी की सजा पाने वाले कैदियों के कमरे में रखा गया और डराया गया कि मुझे फांसी होगी। परन्तु मैं भय-मोह के पुलों को पार कर चुका था, कोई असर मुझ पर नहीं हुआ।

जिला जेल से तीन मास बाद मुझे बड़ी जेल भेजा गया। वहां पिताजी तथा अन्य साथी थे। बड़ी जेल पहुंचने पर सबने मेरा स्वागत किया। वहां लगभग ३०० सुरक्षा बन्दी थे, पिताजी तथा उनके साथी रामप्रसाद बिस्मिल वाली बैरक में

(Terrorist and Revolutionary) बना कर रखे गये थे। सब लोग मुझसे जेल में घुसते ही मिले—मैं सबसे छोटा था। सबने प्यार किया, किन्तु पिताजी नहीं आए। थोड़ी देर बाद ताऊजी मुझे एकांत में ले गए और कहा, "श्रीराम ने कसम खाई है कि अगर पल्लू (मेरा घर का नाम) ने भूदेव के समान इकबाली बयान दिया है तो मैं उसका मुंह जीवन भर नहीं देखूंगा।" मैं घबरा गया। फिर पूछा, "तूने कोई बयान तो नहीं दिया, किसी कागज पर हस्ताक्षर तो नहीं किये ?" जब मैंने उन्हें विश्वास दिलाया तो वे मुझे बैरक के पीछे ले गये। पिताजी अन्धाधुन्ध चर्खा कात रहे थे। ताऊजी ने जब सिर हिला कर मना किया, तब वे समझ गए कि मैंने बयान नहीं दिया है। उन्होंने मुझे अंक से लगाया। मैंने उनके नेत्रों में तीन बार आंसू देखे हैं: गणेशशंकर विद्यार्थी (जिन्हें वे अपना गुरु मानते थे) की तथा बापू जी (महात्मा गांधी) की मृत्यु पर और उस दिन।

उसके बाद मेरे कष्ट समाप्त हो गये। सबका स्नेह प्यार मिलता था, पिताजी तथा ताऊजी साथ थे। मौज से रहता था। घर की याद अवश्य आती थी। घर पर मां, छोटा भाई (५ वर्ष) तथा छोटी बहन (७ वर्ष) रह गये थे। उन्होंने दिन कैसे काटे होंगे यह अन्य कथा है।

मुकदमा चला। हाईकोर्ट जज थे श्री वांचू (बाद में भारत के चीफ जस्टिस) तथा हमारे वकील थे डा० कैलाशनाथ काटजू। मुकदमे का विवरण यहां नहीं दूंगा। मुकदमे में ताऊजी, शीतल, सूरजभान, बंगालीमल को सजायें हुईं। शेष लोग छूट गये। उन दिनों की असंख्य बातों और यादों पर दो पुस्तकें लिख रहा हूं। जिनमें सारी बातें--अनेक भेद होंगे। यहां संक्षेप में संस्मरण का समापन करता हूं। 1944 के सितम्बर में पिताजी को उनके साथियों सहित फतहगढ़ जेल भेज दिया गया। क्योंकि वहां अधिक कड़ी सुरक्षा व्यवस्था थी। थोड़े दिन बाद मुझे तथा अन्य व्यक्तियों को भी वहां भेजने का हुक्म आ गया। पुलिस की मोटर आ गयी। साथियों से विदा ले ली। चलने से आधा घण्टा पूर्व लखनऊ से छूटने का हुक्म, तार से, आ गया। सब लोग छोड़ दिये गये। मैं घर आ गया। केवल सोमेन्द्रमोहन मुखर्जी (मेरे गुरु) उस दिन फतहगढ़ जेल भेजे गये।

1945 में पिताजी छूट कर आ गये और सीधे सेवाग्राम चले गए। आंदोलन से पूर्व वे वर्ष में दो मास सेवाग्राम, दो मास शांतिनिकेतन और कलकत्ता ('विशाल-भारत' के सम्पादन हेतु कलकता प्रतिमास १० दिन के लिए) रहते थे। मैं भी उनके

सेवाग्राम जाता था। परन्तु जेल से छूट कर पढ़ाई की टूटी श्रृंखला फिर से जोड़ी और जीवन अपने पुराने ढर्रे पर चलने लगा।

स्वतन्त्रता के बाद लोगों ने जेल जाने के मुआवजे के रूप में लाखों रुपये, सम्मान तथा बड़े-बड़े पद पाये और पाने के लिये तिकड़म की।

माननीय पन्तजी ने जब पिताजी से पूछा तो उन्होंने कहा था—"I do not want to cash upon my patriotism and I hope my family members will follow me." पिताजी ने फिर खेती और लिखना आरम्भ कर दिया। कुछ वर्षों बाद दोनों नेत्रों की ज्योति चले जाने के बाद भी आठ पुस्तकें लिखीं और परिश्रम करते हुए ही परलोक सिधारे। अपने तपस्वी पिता की समानता करने की क्षमता तो मुझ में नहीं है, परन्तु 1949 में Political Sufferer के नाते पुलिस में डी० एस० पी० का पद मिलने पर, मैंने उसे नहीं लिया। अवकाश तथा सुविधा मिलने पर, कभी 1942 की कथा विस्तार से लिखूंगा।

— ० —

जे-34, जवाहर नगर, श्रीनगर

आपकी बात

अंक : 60

- शीराज़ा मिली। इस बार का अंक अधिक समृद्ध लगा।

—डा० विनय

—25-बंगलो रोड, दिल्ली—11000

- शीराज़ा का स्तर निरन्तर ऊंचा होते देख कर खुशी हो रही है। विशेषकर नये अंकुरों की तलाश करके आपने एक प्रशंसनीय कार्य किया है। बधाई।

—डा० अयूब प्रेमी

जे—6, जवाहरनगर, श्रीनगर।

- प्रसन्नता की बात है कि जब से आपने शीराज़ा का कार्य-भार सम्हाला है, यह पत्रिका प्रत्येक दृष्टिकोण से सराहनीय प्रगति कर रही है। आप जैसे कर्मठ नवयुवक से जम्मू-कश्मीर के साहित्य-प्रेमी यही आशा करते थे। आपके सुयोग्य सम्पादन ने शीराज़ा के कलेवर और साजसज्जा को ही नहीं बदला है, इसे उच्चकोटि के लेखों, कविताओं और कहानियों आदि से भी पूर्ण किया है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि से सम्बंधित शीराज़ा के विशेषांक वास्तव में प्रशंसनीय हैं। स्थानीय तथा बाहर के लेखकों, स्थापित साहित्यकारों एवं नये हस्ताक्षरों को शीराज़ा में समुचित स्थान देकर उनकी उत्साह-वृद्धि की गई है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि नयी प्रतिभाओं को खोजने व सामने लाने में आपने विशेष सफलता प्राप्त की है। यह देखकर अत्यन्त हर्ष है कि हिन्दी की प्रमुख पत्रिकाओं में शीराज़ा का विशिष्ट स्थान बनता जा रहा है। कुशल सम्पादन के लिये आपको हार्दिक बधाई है। आशा है कि आपकी अनुभवी देखरेख में इसी

प्रकार विकासोन्मुख रहकर शीराज़ा हिन्दी-प्रेमियों की साहित्यिक तृषा को तृप्त करती रहेगी।

—जगदीशप्रसाद द्विवेदी,
भू० पू० प्रधान, हिन्दी-साहित्य-मण्डल,
जम्मू व कश्मीर।

● पिछले कुछ वर्षों से शीराज़ा की नियमित पाठिका हूं। जम्मू-कश्मीर जैसे अहिन्दी भाषी प्रांत से आप एक हिन्दी-पत्रिका सम्पादित कर रहे हैं—यह अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण है। अतः इसके स्तर के सम्बन्ध में कुछ न कहते हुए आपका ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहूँगी कि किसी भी पुस्तक अथवा पत्रिका से पाठक की पहली मांग यही होती है कि इसमें प्रकाशित सभी रचनायें मौलिक तथा स्तरीय हों .. शीराज़ा इसका अपवाद नहीं हो सकती।

इसी सन्दर्भ में मैं आपका ध्यान ए राटन स्टोरी (जया भारद्वाज) की ओर आकृष्ट करना चाहूँगी। कहानी मात्र भाषा, शैली और भावाभिव्यक्ति के स्तर पर ही अमृता प्रीतम की नकल नहीं है अपितु उसमें पूरे-के-पूरे पैराग्राफ ही रसीदी टिकट से उठाकर जड़ दिये गये हैं। एक टुकड़ा आपकी जानकारी के लिये प्रस्तुत कर रही हूं जिसकी तुलना आप पृष्ठ 6: पर छपी पंक्तियों से कर सकते हैं—

"यह बरस मेरी ज़िन्दगी का सबसे उदास बरस था, ...मन ने घर की दहलीजों से बाहर पांव रख लिया था, पर, सामने कोई रास्ता नहीं था। इसलिए घबरा कर कांपने लगा।

साहिर को बम्बई फोन करने के लिये फोन के पास गई ...साहिर को ज़िन्दगी की एक नयी मुहब्बत मिल गई है। हाथ फोन के डायल से कुछ इंच दूर शून्य में खड़े रह गए...

उन्हीं दिनों मैंने अपने मन की दशा को आस्कर वाइल्ड के इन शब्दों में पहचाना था—"मैंने मर जाने का विचार किया .. ऐसे भीषण विचार में जब ज़रा कुछ कमी हुई तो मैंने जीने के लिये अपना

मंन पक्का कर लिया। पर, सोचा—उदासी को मैं अपना एक शाही लिबास बना लूंगा और हर समय पहने रहूँगा ...अपने अनुभव से इन्कारी होना ऐसा है, जैसा अपनी ज़िन्दगी के होठों में कोई हमेशा के लिये झूठ भर ले ...यह अपनी रूह से इन्कारी होना है... ।" (रसीदी टिकट; प्रकाशक : हिन्द पाकिट बुक्स प्रा० लिमिटिड; पृष्ठ ४६)

जया जी को इस मौलिक उद्‌भावना का श्रेय तो देना ही होगा कि कहानी के नायक- नायिका के नाम भी 'अ' और 'स' रखे गये हैं जो शायद अमृता और साहिर के इनिशियल्स हैं। आपके पाठक चाहें तो शीराज़ा के पृष्ठ ६४, ६८ पर प्रकाशित सामग्री की तुलना रसीदी टिकट के पृष्ठ १६४ एवं १५७ से कर सकते हैं। शेष सामग्री के लिये "एक थी अनीता" और "नागमणि" को देखा जा सकता है।

इतनी उठाईगीरी के बाद कहानी में जया जी का अपना क्या बच रहता है... इसका उत्तर शायद उनके पास हो—कम- से- कम मेरे पास तो नहीं ही है।

—शशी रत्न
महाराजा हरिसिंह एग्रीकल्चरल कालिजिएट स्कूल,
नागबनी, जम्मू।

● "अपनी बात" में हिन्दी समीक्षा पर आपका निर्भीक स्वर अंक 59 की भांति अति सशक्त एवं ध्यान आकर्षित करने वाला लगा। आश्चर्य है इस सात्त्विक तपश्चर्या में भी गुटबाज़ी का प्रचलन जोरों पर है। वैसे आश्चर्य नहीं भी है। शायद 'इन' विभूतियों को इसकी अब और जरूरत पड़ गयी है—अपनी स्थापित पहचान को और मनवाने के लिये। मगर, कब तक? नवोदित लेखक, त्रिशंकु की भांति बीच लटके जाने से सतर्क हैं, अब।

कुण्ठाओं, विषमताओं एवं आज के मलिन वातावरण को व्यक्त करते कविगण के करुण विलाप से यह अंक (60) और भी सजीव, सशक्त एवं स्तरीय लगा। इन स्वरों में उल्लेखनीय हैं: सर्वश्री

अजितकुमार, फूलचन्द मानव, सन्तोषी, अग्निशेखर, उपेन्द्र रैणा, दिलीप कौल, पूनम महाजन, सलगोत्रा। बधाई।

कहानी ''न्यूज़ लैटर'' ही अंक की अच्छी कहानी कही जा सकती है।

—बन्सीलाल कुचरू,
हा० से० स्कूल, राजौरी।

● इस अंक में—पुरस्कार/सम्मान को लेकर जो विवाद उत्पन्न हुआ है, उसे लेकर बात को बढ़ाना नहीं चाहता। पर, यह ज़रूर कहूंगा कि अकादमियों के द्वारा दिये जा रहे सम्मान अपनी विश्वसनीयता खोते जा रहे हैं।

अकादमियों के पुरस्कारों में अब लाबियां सक्रिय हो गई हैं, यहां तक कि जातिवाद का रूप भी इनमें उभरता जा रहा है। सत्ता को सहलाने वाले कुछ साहित्यकार प्रथम पंक्ति के लेखकों पर पर्दा डाले हुए हैं। वर्ना क्या कारण था कि हिन्दी की शीर्ष कवयित्री महादेवी को डा० शिवमंगलसिंह सुमन के उ० प्र० अकादमी का अध्यक्ष बनने पर ही एक लाख रुपए का पुरस्कार मिल पाया। महादेवी जी का काव्य और उनका गद्यात्मक संस्मरण किसी ज्ञानपीठ और अकादमी का मुहताज नहीं है। वह तो पाठक से अपना वाजिब मूल्य पाता रहा है। पर, आश्चर्य इस बात का रहा कि कतिपय लेखक ही महादेवी का आंतरिक विरोध इस बात पर करते रहे कि महादेवी राजनीति पर धारदार करवत चलाती हैं। ऐसे कई साहित्यकार हैं—नरेश मेहता, विष्णु प्रभाकर... जो अकादमियों में पुल न बना पाने के कारण ओझल ही हैं। हरिशंकर परसाई ठीक कहते हैं कि 'साहित्य में बन्धुत्व से अच्छा धन्धा हो जाता है।'' पुरस्कारों की प्राप्ति में बन्धुत्व का प्रतिशत बढ़ चला है। लोग कहते हैं कि अंग्रेज़ों ने देश का इतिहास ही गलत ढंग से रचाया है। क्या हम ऐतिहासिक चीजों और सत्यों को साहित्यिक लाबियों के आधार पर तिरस्कृत/उपेक्षित नहीं बना रहे हैं, क्या साहित्य के इतिहास में प्रतिष्ठा

दिलवाने के लिए भी आंदोलनों / हस्ताक्षरों / आयोजनों की सक्रियता जरूरी है ? पर, हो यही रहा है और अनेक कवि भवभूति की तरह ओट में पड़े हुए कह रहे हैं कि समय ही उनका मूल्यांकन करेगा। प्रचार और शोरगुल, संघर्ष और बन्धुत्व के आधार पर या पुरस्कारों के आधार पर मूल्यांकन कितना जरूरी/गैरजरूरी है, यह तो कोई भी जानता है।

बी० एल० आच्छा,
शासकीय महाविद्यालय, बड़नगर।

- अँक 60 में श्री जितेन्द्र उधमपुरी का खत पढ़ा। मन को गहरा आघात लगा कि श्री उधमपुरी पुरस्कार का सम्बन्ध महानता से करते हैं, नहीं तो, तथाकथित (पुरस्कृत) महान लेखकों के देशी—प्रांतीय नाम गिनने में क्या तुक थी। (शायद वह भूल जाते हैं कि इन दिनों पुरस्कार एक षड़यन्त्र के अन्तर्गत दिये जाते हैं) पुरस्कार खैरात हैं या नहीं; मुझे इस विषय में कुछ भी नहीं कहना है। मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूं कि इस शोषित समाज में पुरस्कार उन्हीं लेखकों को दिए जाते हैं, जो अपने लेखन से शोषणकर्ता के लिये कोई खतरा नहीं पैदा करते। ऐसे पुरस्कृत लेखक किसी विशेष वर्ग के लिये महान या सम्माननीय हो सकते हैं। लेकिन ऐसे लोग जनता के लिए महत्वहीन हैं। मेरे विचार से पुरस्कार एक ऐसी चूसनी है, जो राजतन्त्र द्वारा लेखकों के मुंह में डाल कर, उन्हें चुप कराने के काम लाई जाती है।

  उधमपुरी जी कृपा करके पुरस्कार तथा पुरस्कृत लेखकों के बारे में पुनः विचार करें।

—महाराज सन्तोषी
टेलीकॉम अकाऊंटस, जी० एम० टी०, श्रीनगर।

- शीराज़ा 60 में भाई अशोक जेरथ का पत्र पढ़ा—बेहद खिसियाहट भरा। बेहतर होता बौखलाहट में व्यक्तिगत, घटिया आरोपों के

स्थान पर वे लेख सम्बन्धी उन कमज़ोर मुद्दों पर उठाये प्रश्नों का शालीन भाषा में उत्तर देते।

हिन्दी की एक अच्छी पत्रिका के सम्पादक होने के नाते मुझे आपसे भी यह अपेक्षा है कि आपको भी पत्रों की भाषा का शोधन कर लेना चाहिये। मेरे इस आरोप की पूर्ति शीराज़ा 60 के पृष्ठ ii (अपनी बात) तथा पृष्ठ 117 पर दी गई आपकी पाद टिप्पणियों से हो जाती है जहां आप पत्रों की भाषा में शालीनता, शील तथा संयम की लेखक से अपेक्षा रखते हैं।

आपसे यह जानकारी भी चाहूंगा कि क्या आपके यहां से प्रकाशित रचना, बार- बार शीराज़ा का सन्दर्भ दिये बिना छपवाई जा सकती है? भाई जेरथ की एक कहानी शीराज़ा में छपने के बाद जब एक बार पुनः 'हिमप्रस्थ' में छपी तो मुझे महज़ एक भूल नज़र आई किन्तु पिछले दिनों शीराज़ा 56 में छपी उनकी कहानी "चीड़ें झुकती हैं" 'पंजाब- सौरभ' के मई 82 अंक में "अहसासों के घेरे में" के बदले नाम से छपी देखी तो चौंका। और, कुछ दिनों बाद तो कमाल ही हो गया जब मेरे हाथ 'आकार' का मार्च, 82 अंक लगा और उसमें अपनी उसी "चीड़ें झुकती हैं" कहानी के साथ भाई जेरथ दर्शन दे रहे थे। अनुवाद में सिद्धहस्त भाई जेरथ हिन्दी के अतिरिक्त डोगरी, बंगला तथा अंग्रेज़ी भाषा के भी विद्वान हैं तथा समय- समय पर इन भाषाओं में छपने वाली पत्रिकाओं- पत्रों आदि में छपते रहते हैं। मेरा ज्ञान इन भाषाओं में छपी पत्रिकाओं के सम्बन्ध में सीमित है। अतः यदि इनमें- से किसी एक- दो- तीन पत्रिकाओं में इस कहानी का अनुवाद (कहानी के बदले गये शीर्षक से) भी छपा हो तो क्या आश्चर्य? अब रही ईमानदारी! अजी छोड़िये बेकार की बात है, हम तो अपने गिरेबां में भाई की इच्छा का पालन करते हुए झांके जा रहे हैं।

मेरे पत्र की माप- तोल में उन्हें किसी मंच की ऊंचाई दृष्टिगोचर हुई, मैं धन्य हुआ। बेहतर होता वह मंचविशेष का नाम स्पष्ट रूप में लिखकर अपनी सहसी ज्योतिष- विद्या का परिचय देते।

—डा० आदर्श (आयुर्वेदाचार्य),
मेडिकल ऑफिसर, ज़िला उधमपुर।

पुस्तकें और पुस्तकें

● शिक्षाशास्त्रियों की सदा शिकायत रही है कि उम्र में बड़े लोग बच्चे को बच्चे के रूप में देखते- समझते नहीं। उस छोटे- भोले आकार में वे एक बड़ा और चतुर मनुष्य देखने की कोशिश करते हैं। चतुर जुलाहों की पुरानी कहानी में बच्चा ही राजा के नंगेपन के सत्य को कह पाया। क्योंकि बच्चा भोला और निष्पाप तो होता ही है, उसे किसी क्षेत्र में योग्यता अथवा अयोग्यता के प्रमाणपत्न की भी जरूरत नहीं होती। "बच्चा मनुष्य का पिता है तथा बच्चे को पूर्ण स्वतन्त्रता दो" कहने वाले महान् दार्शनिकों के पास कवि का हृदय भी था।

बलदेव वंशी अपने काव्यसंग्रह 'बच्चे की दुनिया' में एक ओर शिशु-मनोविज्ञान में अपनी पैठ का परिचय देते हैं तो दूसरी ओर ये कवितायें इस बात की गवाही देती हैं कि काव्य- शिल्प पर उनकी पकड़ कितनी शक्तिशाली है।

बलदेव वंशी के यहां 'बच्चा' एक व्यक्ति होने के अलावा भविष्य के प्रति मनुष्य की जिजीविषा का प्रतीक है। बच्चे के प्रति कवि की चिन्ता मनुष्यमात्र के अस्तित्व से जुड़ी हुई है।

खिलौने बनाना और खिलौने तोड़ना बच्चे की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। लेकिन यही शिशु- प्रवृत्ति विश्व- रंगमंच पर मनुष्य की निर्माण और विध्वंस की प्रवृत्तियों से जा जुड़ती है। 'अकेला बच्चा' में कवि कहता है—"बच्चा कभी कुछ नहीं तोड़ता /वह बड़ों की दुनिया में/अपनी दुनिया जोड़ रहा है ! (पृष्ठ 10) खिलौनों के विध्वंस पर ठहाके लगाते बच्चे के विषय में कवि का कहना है—"अपने जन्म के बाद तीन वर्षों में ही/बच्चा इतना कुछ सीख गया है/वह किस पाठशाला में जाता है ?" (पाठशाला : पृष्ठ 11) बात

(बच्चे की दुनिया : बलदेव वंशी ; इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन कृष्णनगर, दिल्ली 11005)

अधिक स्पष्ट होती है 'घर और घृणा' कविता में जहां एक बच्चा घरौंदा बनाता है; दूसरा उसे तोड़ता है और "तीसरा बच्चा/भय में कुछ भी नहीं बनाता/वह चुपचाप खड़ा/इस घटना में/घृणा को सूंघता है।" (पृष्ठ 13) वर्तमान जगत की परिस्थितियां कुछ ऐसी हैं कि मानव-सभ्यता के लिये आगामी कल की सम्भावनाएं निरन्तर धूमिल होती जा रही हैं। 'बड़े' चाहे व्यक्ति हैं या देश, अपनी चतुराई और कूटनीति से विनाश का क्षण निकटतर लाते जा रहे हैं। इसीलिये 'युद्धप्रेत' कविता में हंसते-खेलते बच्चों के ऊपर फैले आसमान में एक जहाज गुजर जाता है तो बच्चे गायब हो जाते हैं। ऐसा मनुष्य जो कुछ कर नहीं सकता, कुछ कह नहीं सकता, गूंगे बच्चे की मानिंद है। कवि को चिन्ता है—"वह बच्चा/ जो मां के गर्भ में/ गुलाब-सा खिल रहा है पंखुड़ी-पंखुड़ी/ कल बम-विस्फोट से उड़ रहा होगा चिंदी-चिंदी।" (पृष्ठ 18)

आज बच्चे को लेकर एक बहुत बड़ा सवाल है—परिवार में उसके सामंजस्य का। मां-बाप की पीढ़ी बच्चे के लिए वर्जनाओं की सृष्टि करती है, शिक्षा-शास्त्री उस पर किताबों का बोझ लाद देते हैं। ऐसे में—"बच्चे के लिए मां-बाप/ और मां-बाप के लिये बच्चा/ फालतू बनता जा रहा है।" (पृष्ठ 14) घर से निकल कर भीड़ भरी सड़कों पर भीड़ बन रहा है, "घर की सुरक्षित छायाओं में-से निकल कर/ सड़क की डरावनी घटनाओं में चलता/ रो रहा है लगातार...।" (पृष्ठ 29) 'दुर्घटनाग्रस्त' कविता में जनपथ का चित्रण सर्वेश्वर की 'कुआनो नदी' और 'यहीं कहीं एक कच्ची सड़क थी' कविताओं की याद दिला देता है। यहां भाव और विचार प्रकृत लय प्राप्त करके पाठक के हृदय को झकझोरते चले जाते हैं। इस संग्रह की अनेक कविताओं में बलदेव वंशी काव्य की नयी ऊंचाइयों का स्पर्श करते हैं। कहीं कोई बनावट नहीं, कहीं प्रतीकों का बेहूदा मायाजाल नहीं। सरलता, स्पष्टता, सहजता से ओतप्रोत गम्भीरता इन कविताओं की विशेषता है।

- आवरण के अन्तिम पृष्ठ पर छपे 'पुस्तक-परिचय' में लिखा हुआ है—"यह कवि का पहला कविता संग्रह है। परन्तु कविताओं की 'परिपक्वता' सहज ही यह विश्वास जमने नहीं देती कि यह कवि का पहला प्रयास है।

'कवि-परिचय' से यह बात भी स्पष्ट होती है कि लेखक अनेक विदेशी

भाषाओं की कविताओं का हिन्दी अनुवाद कर चुका है और कि इस कृति का विमोचन बल्गारिया में हुआ। हिन्दी में यह फैड भी काफी बल पकड़ने लगा है। विदेशी डिग्रियों की चकाचौंध की तरह इस तरह के अनुवाद भी काफी क्रेडिट का विषय समझे जाने लगे हैं। समझे जाने भी चाहिये। लेकिन अगर ये इश्तिहार मौलिक साहित्य की बैसाखियां बन कर रह जायें तो साहित्य के लिए स्थिति चिंतनीय हो जाना स्वाभाविक है।

कृष्ण खुल्लर के नवप्रकाशित कविता-संग्रह के कुल 43 पृष्ठों की गणना कहां से शुरू होती है यह भी एक गवेषणा बन जाती है। यदि आउटर टाइटिल को भी पृष्ठों की गणना में न रखा जाये तो पृष्ठ कम पड़ जाते हैं। यदि मुद्रक ने ज़रा ईमानदारी से काम लिया होता तो पृष्ठसंख्या काफी कम हो सकती थी। कुछ भी हो, इस छोटी-सी पुस्तिका के लिये पाठक से बीस रुपए की मांग काफी 'साहसपूर्ण' कदम है। मंहगाई का ज़माना है न!

कविताओं के नाम पर इस पुस्तिका में जो कृतियां हैं, उनमें- से अनेक कविता से दूर रखी जाने वाली चीजें हैं। इस प्रकार की रचनायें, इस बहस को छेड़ने का काम ज़रूर कर सकती हैं कि कविता आखिर है किस बला का नाम? 'काव्यपाठ' शीर्षक से पृष्ठ 18 पर छपी एक रचना यूं है :--

सोचता हूं/ कौन- सी कविता कहूं/ जो सुनी है आपने/ या सुनेंगे आप पहली बार/ अच्छा, एक छोटी- सी कविता सही/ शायद आपको पसन्द हो/ क्या कहा—कविता कहो, चाहे कोई हो/ क्या यही कविता दोबारा कहूं!

संग्रह की अधिकांश रचनायें इसी स्तर और बुनावट की हैं। एक दार्शनिकता- भरी रचना 'अमरत्व' देखिये :—

सुना वह मर गया/ दो क्रियायें—/ 'मरा' और 'गया'।/ यदि मरा/ तो गया कहां?/ यदि गया/ तो मरा कहां?/

शब्दजाल रचना को कविता के निकट लाने में सहायक होता है लेकिन भाव और मौलिकता लेखन की पहली शर्त है। और, इस मौलिकता का कवि के पास अभाव दिखाई देता है। आकृतियों की नियति, प्रत्याशा जैसी कुछ रचनाओं को छोड़कर इस संग्रह की अधिकांश रचनायें बहुत हल्के स्तर की हैं। काश, सहनशीलता, विश्वास न करो, सावधान, हर हर गंगे जैसी

अपेक्षाकृत लम्बी रचनाओं में- से कुछ पंक्तियां ऐसी निकाली जा सकतीं जिन्हें पढ़ कर यह आभास हो कि हम कविता पढ़ रहे हैं। याद रखना चाहिये कि शब्दों का जुगाड़ कर देने से ही कविता का निर्माण नहीं हो जाता। 'हर हर गंगे' पढ़ने के बाद लगता है, "गंगा आये कहां से, .. 'गंगा तू बहती है क्यों..." जैसे सिने-गीतों में कविता का अंश अधिक है। साठ साल की आयु में कवि का यह प्रथम हिन्दी- कविता- संग्रह† देख कर कवि के भविष्य के लिये क्या प्रार्थना की जाए?

—डा० ओमप्रकाश गुप्त

† आकृतियों की नियति : कविता- संग्रह : समकालीन प्रकाशन, राजगुरु मार्ग, दिल्ली 110055 : मूल्य—बीस रुपये।

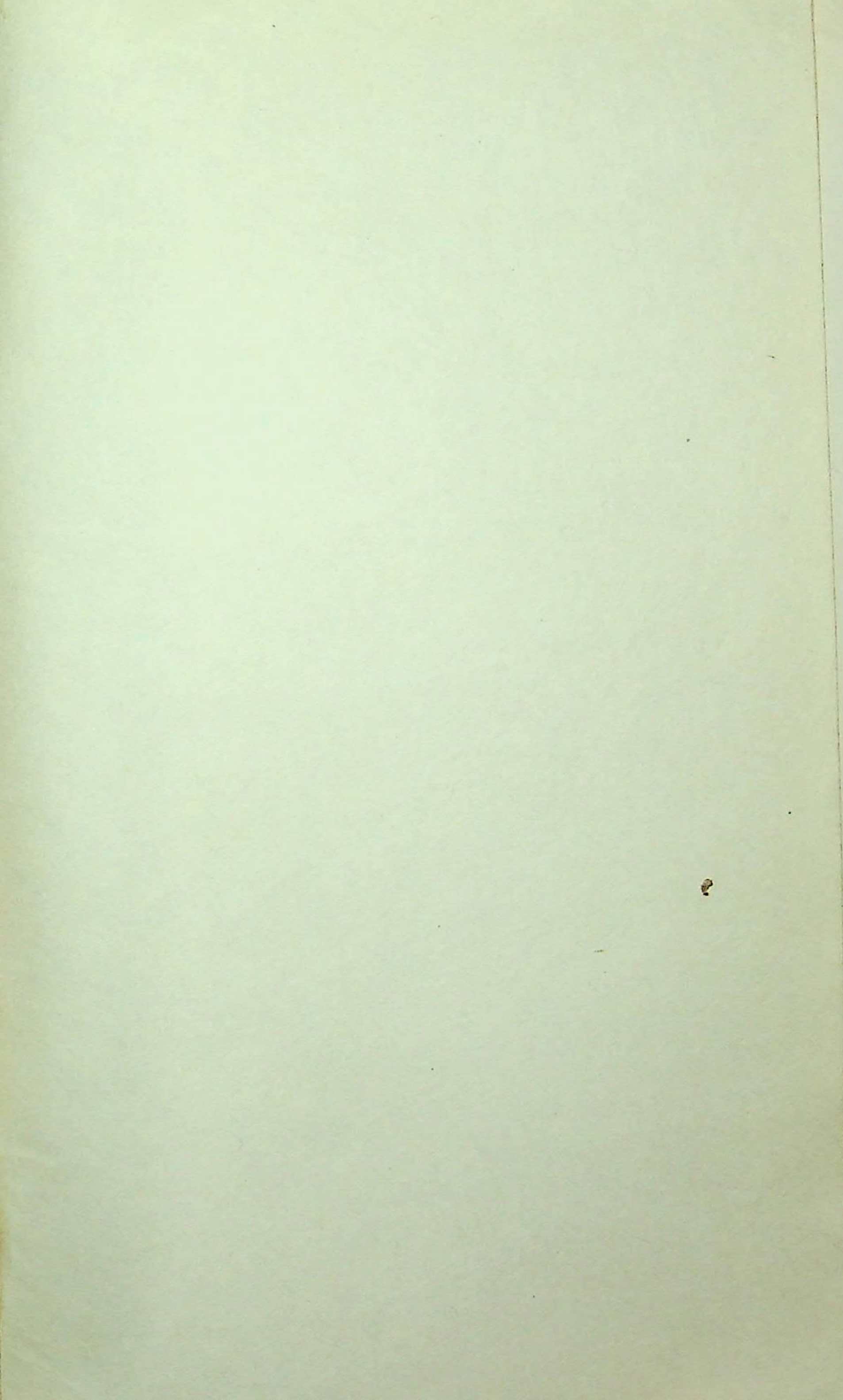
अकादेमी डायरी

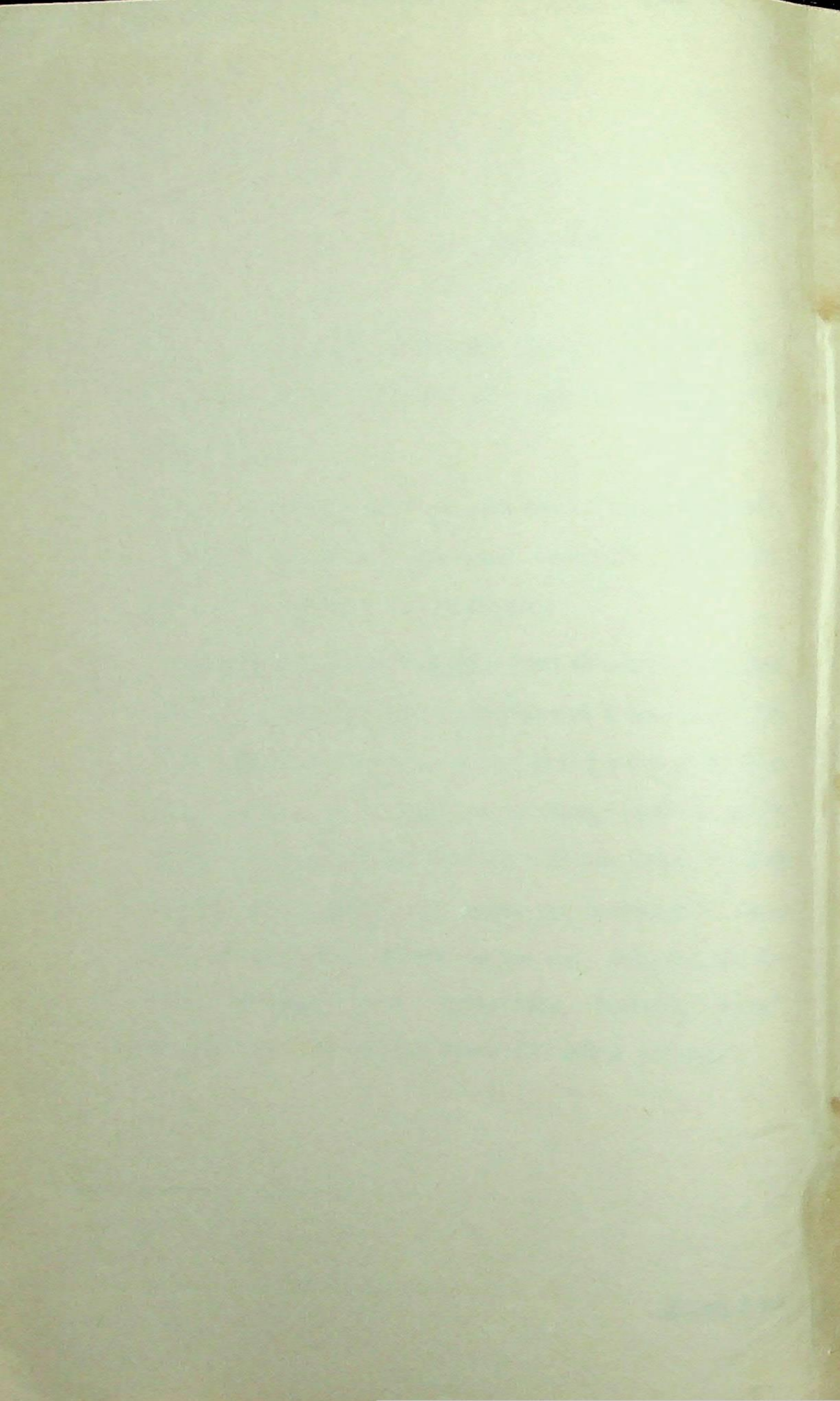
- 5 अप्रैल, 1982 को जम्मू में एक सांस्कृतिक संध्या का आयोजन किया गया, जिसमें हिन्दी, उर्दू एवं डोगरी गीतों की पृष्ठभूमि पर आधारित नृत्य भी प्रस्तुत किये गये ।

- 15 अप्रैल को गांधीनगर, जम्मू में एक संगीत सभा का आयोजन किया गया, जिसमें भाग लेने वालों में प्रमुख थे सर्वश्री श्याम साजन, जीवन शर्मा, कुलदीप बाली, अजीतकुमार तथा रणधीरकुमार ।

- पर्वतीय एवं पिछड़े हुए इलाकों में साहित्यिक चेतना की खोज करने एवं ऐसे अंचलों में साधनारत साहित्यकारों को प्रोत्साहित करने के लिए अकादेमी इन अंचलों में विशेष कवि- सम्मेलनों का आयोजन करती है । ऐसा ही एक कवि-सम्मेलन 22 मई, 1982 को जिला कठूआ की बिलावर तहसील के अंतर्गत आनेवाले गांव भड्डू में आयोजित किया गया । इस कवि सम्मेलन में सर्वश्री रुगालसिंह भडवाल, दर्शनसिंह दर्शी, जगदीश वत्स, कृष्णसिंह कृष्ण, प्रकाश प्रेमी, उत्तमचन्द परदेसी, प्रेमनाथ, दयानन्द शर्मा, नरसिंहनाथ, के० के० केरणी, इच्छयाकुमार गुप्ता, मुहम्मद रफीक, शिवदेवसिंह 'महबूब', डी० डी० बडयाल, यश शर्मा तथा वेदपाल 'दीप' आदि ने भाग लिया ।

— o —







Regd. No. 28871/76 Sheeraza Hindi June/July 1982



A publication of :

J&K Academy of Art, Culture & Languages,

Jammu.